गहरी पर्त के हस्ताक्षर

(परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश की दैनंदिनी से संकलित)

□

प्रकाशक

श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था

बीकानेर (राज.) 334 001

श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था प्रकाशन

☐

पुस्तक : गहरी पर्त्त के हस्ताक्षर

प्रकाशक : श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था
द्वारा—सतीदास सुन्दरलाल तातेड़,
दस्साणियों का चौक, बीकानेर (राजस्थान) 334001

प्रथम आवृत्ति : वि. सं. 2039, आसौज शुक्ला 2
ईस्वी सन् 1982, अक्टूबर

प्रति : 1100

मूल्य : पन्द्रह रुपये

☐

मुद्रण निदेशक : देवकुमार जैन, खजांची मोहल्ला, बीकानेर
मुद्रक : केशव आर्ट, प्रिंटर्स
अजमेर—305001

प्रकाशकीय

परमप्रतापी श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री श्रीलालजी म. सा. की पुण्यस्मृति में समाजोन्नति की प्रवृत्तियों को संचालित करने के उद्देश्य से लगभग पचपन वर्ष पूर्व श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था की स्थापना हुई थी।

इस अर्धशताब्दि के सुदीर्घ काल में संस्था ने समाजोन्नति के प्रमुख अंग—स्वधर्मीसहयोग, साधु-साध्वीवर्ग के शिक्षण की व्यवस्था, होनहार छात्र-छात्राओं को छात्रवृत्ति देकर उच्चस्तर की लौकिक और धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये अग्रसर करना, जीवदया के कार्यों को करना और सर्वजनसुलभ चिरंजीवी साहित्य को प्रकाशित करना आदि जैसे कार्यों को करने की ओर विशेष ध्यान दिया है।

हमें यह निवेदन करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है कि प्रारम्भ काल से ही संस्था का प्रबन्ध उन सुयोग्य व्यक्तियों के हाथ में रहा है जो समाजोन्नति के कार्यों को करने के लिये सर्वात्मना समर्पित थे। उन्होंने स्वयं संस्था की प्रवृत्तियों को संचालित करने में तन-मन-धन से सहयोग दिया तथा अन्य महानुभावों को भी वैसा करने की प्रेरणा देते रहे हैं। संस्था के कोष की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए अपव्यय नहीं होने दिया। यही कारण है कि समाज में संस्था की अपनी साख है। इसीलिये जब कभी संस्था ने अपनी पहले से संचालित प्रवृत्तियों के साथ समयानुसार किसी विशेष कार्य को करने का निश्चय किया तो उसके लिये बिना किसी संकेत के तत्काल आवश्यकता से भी अधिक धन की व्यवस्था होती रही है।

संस्था की ओर से पहले भी साहित्य प्रकाशित होता रहा है और श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज का जीवन चरित्र, जवाहर विचारसार, जैनागमतत्त्वदीपिका जैसे अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। अभी पिछले कुछ वर्षों से समाज में चिरस्थायी साहित्य प्रकाशित करने की भावना प्रबल है। अनेक महानुभावों ने संस्था के माध्यम से साहित्य प्रकाशित करने के लिये पुष्कल मात्रा में आर्थिक सहयोग देने की अपनी इच्छा व्यक्त की।

अर्थसहयोगी

श्री पानमलजी सेठिया

मरुधरा के मुख्य नगर बीकानेर निवासी श्री चम्पालालजी सेठिया के ज्येष्ठ सुपुत्र श्री पानमलजी सेठिया धार्मिक आचार-विचार एवं सरल-सात्विक व्यवहार से सम्पन्न सद्गृहस्थ हैं। सीधी-सादी वेष-भूषा और आत्मीयता से ओतप्रोत हित-मित-मिष्ट भाषा-वाणी आपकी अनूठी विशेषतायें हैं। वस्त्रव्यवसायियों में आप प्रमुख माने जाते हैं।

साधुसंतों को प्रतिलाभित करने के लिये आपके घर का द्वार सदैव खुला रहता है। समाजोन्नति के कार्यों में तन-मन-धन से सहयोग देने में आप विशेष रूप से तत्पर रहते हैं।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती वसंतीबाई भी धर्मपरायण महिलारत्न हैं। धर्मप्रभावना की प्रवृत्तियों में सोत्साह भाग लेती हैं। सामायिक-स्वाध्याय करना, संत-सतियों के दर्शन करना, प्रवचन सुनना और यथायोग्य त्याग-प्रत्याख्यान करना उनकी सामान्य दैनिकचर्या है।

आपके सुपुत्र श्री विजयचन्दजी भी नैतिक संस्कारों से समृद्ध नवयुवक हैं तथा प्रेमलता और फूलकुमारी यह दो पुत्रियां हैं। बाई प्रेमलता विवाहित हैं एवं सुश्री फूलकुमारी का बाल्यकाल से ही वैराग्य के प्रति विशेष लगाव था। यही कारण है कि सर्वतोभावेन संयमपथ पर पदन्यास करने की आज्ञा देने के लिये वे अपने पारिवारिक जनों से आग्रह करती रहती थीं। पहले तो बचपन की भावुकता मानकर इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, लेकिन वयस्क और सज्ञान होने के बाद भी जब भागवती प्रव्रज्या लेने की भावना व्यक्त की तो भली-भांति परीक्षा करके माता-पिता और पारिवारिक जनों ने दीक्षा लेने के लिये सहर्ष अपनी स्वीकृति दे दी।

दीक्षा लेने की स्वीकृति मिल जाने के पश्चात् बालब्रह्मचारिणी सुश्री फूलकुमारी ने वैरागिन के रूप में अपना कुछ समय बिताया। इस समय में आपने अनेक शास्त्रों और ग्रंथों का अध्ययन किया और जब सब तरह से

इसीलिये संस्था ने उन महानुभावों की भावना के अनुरूप अब व्यवस्थित विधि से साहित्य प्रकाशित करने की ओर विशेष ध्यान केन्द्रित करके इन दो-तीन वर्षों में परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म. सा. के प्रवचनों से संकलित करके नल-दमयन्ती चरित्र प्रकाशित किया। अब उसी शृंखला में नई-नई कड़ियां जोड़ने के लिये परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश की दैनंदिनी में अंकित विचारों का संकलन श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त करके 'गहरी पर्त्त के हस्ताक्षर' के नाम से प्रकाशित कर रहे हैं।

इन विचारों में एक अध्यात्मयोगी महामना की भावनाओं की झलक पढ़ने को मिलती है और उनका रसास्वादन तो कोई अन्तर्मुखी विरला व्यक्ति ही कर सकता है। प्रत्येक शब्द अनुभूति का एक-एक आयाम है, जिनको व्यवस्थित रीति से समायोजित कर अध्ययन-मनन करने पर मानस-सरोवर में व्याप्त मुक्ताओं को बिना किसी प्रयास के सरलतापूर्वक प्राप्त करें, अपने आपको विभूषित करें, इसी भावना को मूर्तरूप देने के लिये ही आचार्य श्रीजी के चिन्तन के नवनीत का कुछ अंश पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं तथा भविष्य में और अंश को भी प्रकाशित करेंगे।

अध्यात्मयोगी के इन चिन्तनकणों को प्रकाशित करने में श्रीमान पानमलजी विजयचन्दजी सेठिया बीकानेर ने आर्थिक सहयोग दिया है। एतदर्थ संस्था श्री सेठियाजी का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए आभार मानती है। आशा है श्री सेठियाजी की तरह अन्य महानुभाव भी संस्था को अपना सहयोग देकर साहित्य-प्रकाशन की इस धारा को प्रवाहित रखने में सहायक बनेंगे।

सुन्दरलाल तातेड़
मंत्री
श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था
बीकानेर (राज.) 334001

अर्थसहयोगी

श्री पानमलजी सेठिया

मरुधरा के मुख्य नगर बीकानेर निवासी श्री चम्पालालजी सेठिया के ज्येष्ठ सुपुत्र श्री पानमलजी सेठिया धार्मिक आचार-विचार एवं सरल-सात्विक व्यवहार से सम्पन्न सद्गृहस्थ हैं। सीधी-सादी वेष-भूषा और आत्मीयता से ओतप्रोत हित-मित-मिष्ट भाषा-वाणी आपकी अनूठी विशेषतायें हैं। वस्त्रव्यवसायियों में आप प्रमुख माने जाते हैं।

साधुसंतों को प्रतिलाभित करने के लिये आपके घर का द्वार सदैव खुला रहता है। समाजोन्नति के कार्यों में तन-मन-धन से सहयोग देने में आप विशेष रूप से तत्पर रहते हैं।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती वसंतीबाई भी धर्मपरायण महिलारत्न हैं। धर्मप्रभावना की प्रवृत्तियों में सोत्साह भाग लेती हैं। सामायिक-स्वाध्याय करना, संत-सतियों के दर्शन करना, प्रवचन सुनना और यथायोग्य त्याग-प्रत्याख्यान करना उनकी सामान्य दैनिकचर्या है।

आपके सुपुत्र श्री विजयचन्दजी भी नैतिक संस्कारों से समृद्ध नवयुवक हैं तथा प्रेमलता और फूलकुमारी यह दो पुत्रियां हैं। बाई प्रेमलता विवाहित हैं एवं सुश्री फूलकुमारी का बाल्यकाल से ही वैराग्य के प्रति विशेष लगाव था। यही कारण है कि सर्वतोभावेन संयमपथ पर पदन्यास करने की आज्ञा देने के लिये वे अपने पारिवारिक जनों से आग्रह करती रहती थीं। पहले तो बचपन की भावुकता मानकर इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, लेकिन वयस्क और सज्ञान होने के बाद भी जब भागवती प्रव्रज्या लेने की भावना व्यक्त की तो भली-भांति परीक्षा करके माता-पिता और पारिवारिक जनों ने दीक्षा लेने के लिये सहर्ष अपनी स्वीकृति दे दी।

दीक्षा लेने की स्वीकृति मिल जाने के पश्चात् बालब्रह्मचारिणी सुश्री फूलकुमारी ने वैरागिन के रूप में अपना कुछ समय बिताया। इस समय में आपने अनेक शास्त्रों और ग्रंथों का अध्ययन किया और जब सब तरह से

अपनी क्षमता का स्वयं परीक्षण कर लिया तो संवत् 2032, मिती वैशाख कृष्णा 12 को समतादर्शनप्रणेता परम श्रद्धेय आचार्य श्री 1008 श्री नानालालजी म. सा. के नेश्राय में महासती श्री इन्द्रकंवरजी म. सा. के पास भागवती प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। चतुर्विध संघ में अब आप महासती श्री प्रतिभाश्रीजी के नाम से सम्बोधित होती हैं।

अपने अन्तेवासीवृन्द के साथ परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर एवं महासती श्री इन्द्रकंवर जी म. सा. का इस वर्ष (सं. 2039) अहमदाबाद में वर्षावास हुआ है। वर्षावास के इस चातुर्मासिक काल में संत-सतियांजी म. सा. के द्वारा विविध प्रकार की तपस्यायें हो रही हैं। महासती श्री प्रतिभाश्रीजी म. सा. ने भी मासखमण की तपस्या की।

महासतीश्री की इस तपाराधना के पावन प्रसंग को स्मरणीय बनाने की भावना से प्रेरित होकर श्री पानमलजी एवं विजयचन्दजी ने ऐसे साहित्य को प्रकाशित करने का निश्चय किया जो आत्मगवेषकों और जनसाधारण के लिये समान रूप से उपयोगी हो। इसी विचार को साकार करने के लिये अध्यात्मयोगी परमश्रद्धेय आचार्य श्रीजी की दैनंदिनी में संकलित विचारों को 'गहरी पर्त्त के हस्ताक्षर' के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने के लिये संस्था को आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।

श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन हितकारी संस्था इस पावन कार्य के लिये श्री सेठियाजी और उनके पारिवारिकजनों का हार्दिक अभिनन्दन करती है और आशा करती है कि इसी प्रकार से भविष्य में भी संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आप अपना सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

मंत्री

श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था

बीकानेर (राज.) 334001

यत्किंचित्

यह एक निर्विवाद सत्य है कि प्राणिमात्र आनन्द का अभिलाषी है। इसको किसी युक्ति, तर्क से झुठलाया या परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि प्राणिमात्र में आनन्द पाने की इच्छा किसी वातावरण के प्रभाव से निर्मित नहीं हुई है, अपितु यह उसकी साहजिक वृत्ति है, स्वाभाविक गुण है।

आनन्द बाहर से नहीं, चेतना के ऊर्ध्वीकरण से प्राप्त होता है और उत्तरोत्तर विकास होते जाने पर एक ऐसा समय आता है जब प्राणी सत्-चित्-आनन्दघनरूप होकर सदा सर्वदा के लिये आनन्दानुभूति में रमण करता रहता है।

सुखी होने के लिये प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील है और तब वह स्वयं के बारे में चिन्तन करता है—"क्या मैं अजन्मा हूँ और यदि जन्मवाला हूँ तो पूर्व आदि दिशा-विदिशाओं में से किस दिशा से आया हूँ, ऊर्ध्वदिशा से आया हूँ या अधोदिशा से आया हूँ। यहां से च्युत होकर कहां जाऊंगा?" लेकिन वह इस "मैं" के रूप में शरीर और सुख के साधनों के रूप में बाह्य पदार्थों को ग्रहण करके उनसे सुख पाने की आकांक्षा रखता है। इस मूल की भूल के कारण त्रिकालावस्थायी तत्त्व-आत्मा का विस्मरण कर देता है। इस आत्मविस्मृति के कारण लक्ष्य-प्राप्ति में असफल रहता है। जब असफल रहता है तो मेरे लिये कौनसा मार्ग हितावह है, इसका निर्णय नहीं कर पाता और परपदार्थों की ओर आकर्षित होता है, किसी एक से राग और दूसरे से द्वेष करने लगता है। इस राग-द्वेष का क्रम ऐसा है कि इनका सद्भाव रहने तक संसार-चक्र का परिभ्रमण अबाध गति से चलता है और चक्र की तरह प्राणी चक्कर लगाता रहता है।

इतना होने पर भी प्रत्येक प्राणी इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिये लालायित है, उत्सुक है। आध्यात्मिक ज्ञानज्योति की लघुतम किरण सदैव उसके अंतरंग को प्रकाशित करती रहती है। जो किसी भी विकटतम स्थिति में हेयोपादेय का विवेक करने की प्रेरणा देती है। परिणामतः वह

वहिर्मुखता और वासनाओं से विरक्त होकर आत्मस्वरूप की ओर अग्रसर होता है—

असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतंगमय ।

इसी भावना में आध्यात्मिकता का बीज निहित है। यही आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने का प्रथम सोपान है। इस सोपान पर जिसने पादन्यास कर लिया, उसको विश्व के अनुकूल प्रलोभन और प्रतिकूल उपसर्ग गंतव्य की ओर गमन करने में अवरोधक नहीं बन सकते हैं।

विश्व में चार गति और चौरासी लाख योनियां हैं। कुछ गतियां तो ऐसी हैं जिनमें प्राप्त का भोग करने के सिवाय अन्य कुछ भी करना शक्य नहीं है। लेकिन उन प्राणधारियों में मानव का विशिष्ट स्थान है। उसकी अपनी महत्त्वपूर्ण और मौलिक विशेषतायें हैं, जो अन्य प्राणधारियों में नहीं पाई जाती हैं। मनुष्य जाति में ही विकास की क्षमता है, वह आध्यात्मिकता की अनुभूति और उसकी पूर्ण स्थिति प्राप्त कर सकती है।

आत्मपरकता का सिद्धान्त ही मानव के पृथक् अस्तित्व का मूलाधार है। आध्यात्मिक पवित्रता को प्राप्त करना मानव-जीवन का लक्ष्य है। लेकिन खेद है कि आज का चिन्तक, आज का विचारक और आज का युवक वैज्ञानिक उपलब्धियों, विज्ञान से निर्मित साधनों से सुख प्राप्त करने के लिये अग्रसर है और सोच रहा है कि विज्ञान कहां से कहां पहुँच गया है, वही संसार में सब कुछ है। भौतिक ही सत्य है, वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो सकने वाली स्थापनायें सही हैं।

इसके साथ ही विडम्बनापूर्ण स्थिति यह बन गई है कि शासन में स्थित बुद्धिशाली और उन्हीं के आसपास में रहने वाले व्यक्ति मानव को विशुद्ध यांत्रिक, भौतिक और स्वयंचालित इच्छाओं से निर्मित प्राणी मान कर भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की वृद्धि करने पर जोर देते हैं, इसके लिये योजनायें बनाते हैं और वैसे कार्य भी करते हैं, लेकिन मानव के अन्तस् में स्थित 'मैं' को पवित्र बनाने, उसको सशक्त, समृद्ध, सम्पन्न बनाने के लिये निश्चेष्ट हैं। यही कारण है कि मानव को जिस महत्त्वपूर्ण स्थान पर योगदान करना चाहिये था वहां तो नहीं, किन्तु जहां उपयोग की आवश्यकता नहीं, वहां अपनी शक्ति और स्वयं को नियोजित कर रहा है—यह सोचकर कि मुझको अमुक स्थल पर कुछ-न-कुछ मिलेगा। इसीलिये

आज के युग में आस्थाहीनता के भयंकर रोग का दायरा बढ़ता जा रहा है। मानव आध्यात्मिक रूप से विस्थापित होता जा रहा है, सांस्कृतिक मूल्यों की जड़ें उखड़ रही हैं।

अपने भौतिक वातावरण को काबू में रखने की क्षमता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है स्वयं को जानना, स्वयं के साथ सम्बन्ध जोड़ना। आज विज्ञान का जितना विकास हुआ है, क्या मानव को उतनी शान्ति मिली है? विज्ञान को सभ्यता का आधार नहीं बनाया जा सकता है। भले ही वैज्ञानिक उपलब्धियां शारीरिक स्वास्थ्य, समृद्धि और अवकाश में सहायक हो जायें, लेकिन यथार्थ सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिये आत्मा को देदीप्यमान बनाना होगा। तभी विषम परिस्थितियों में भी आनन्द की खोज एवं प्राप्ति हो सकेगी।

आत्मा की खोज का प्रथम सूत्र है—स्वयं को जानना, मैं कौन हूं का उत्तर प्राप्त करना। क्योंकि आध्यात्मिकता आत्मा का अस्तित्व मानने पर आ सकती है। आत्मा को ढूंढने के लिये प्रमाण, युक्तियों की जरूरत नहीं है। स्वयं का संवेदन, स्व का अनुभव ही इसके लिये पर्याप्त है। स्व को जानने की शक्ति इन चर्मचक्षुओं में नहीं है, वह अन्तस् में समायी हुई है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब आत्मा का अस्तित्व है, तो फिर आध्यात्मिक दृष्टि का विकास क्यों नहीं हो रहा है? इसका कारण है मानव केवल बाह्य आकृतियों को देखकर फूला नहीं समा रहा है। जैसे कि मैं कितना सुन्दर हूँ, मेरा वर्ण कितना गौर है, यह तिलक ठीक लगा है कि नहीं। लेकिन जिस योग्यता को बाहर में नियोजित कर रहा है, उसी को अन्तर्मुखी कर ले तो सत्-चित्-आनन्दघन अपने आप-दिखने लगेगा।

विज्ञान आध्यात्मिकता का प्रतिपक्षी नहीं है, विज्ञान धर्म का विरोध नहीं करता है। धर्म सर्वजनहिताय है, सब जीवों के कल्याण के लिये है, सबको शान्ति और आश्रय देता है और मन को पवित्र बना कर उस अन्तर्ज्योति से प्रकाशित करता है कि जिससे प्रत्येक सत्-चित-आनन्दघन रूप हो जाये। विज्ञान प्रयोगसिद्ध है और धर्म अनुभवसिद्ध। परन्तु दोनों के प्रयोग के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। धार्मिक प्रयोगों का आधार आत्मा है, आत्मिक यथार्थ का अनुभव करना है, परन्तु भौतिक संसार का नहीं। विज्ञान के सिद्धान्त प्रयोग द्वारा प्रमाणित होते हैं, लेकिन विज्ञान के प्रयोगों का प्रस्तुतीकरण इस रूप में किया गया कि वे भयावह हो गये हैं। विज्ञान को अमंगलकारी उद्देश्यों की पूर्ति में लगाने से विज्ञान की आत्मा दूषित हो

गई है। विज्ञान की शिक्षा का उद्देश्य मानव के दृष्टिकोण को अधर्म और भौतिकता के प्रति आकर्षित करना नहीं है। वह तो यह स्पष्ट करता है कि अमुक स्थूल पदार्थ में अमुक शक्ति है और लोकमंगल के लिये इस प्रकार से उसका उपयोग किया जाना चाहिये। लेकिन खेद यह है कि सत्ता के लोभी व्यक्ति वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग संहार के लिये कर रहे हैं और वैज्ञानिक अपनी कृति के इस रूप को देखकर खेदखिन्न हैं।

यही कारण है कि आज का वैज्ञानिक अन्तर्मुखी होता जा रहा है। वह आत्मविज्ञानियों के अनुभवों को अपने जीवन-व्यवहार में उतारने के लिये लालायित हो रहा है और यह मानता है कि आत्मकेन्द्रित होने एवं आत्मजागरण का कार्य श्रेष्ठतम कार्य है।

अतएव सुख की आकांक्षा है तो आत्मिक स्वरूप को समझने के लिये धर्मस्थान की भूमि में प्रवेश करना होगा। धर्मस्थान की पावन भूमि हृदय है और इसमें प्रवेश करने पर अनुभव होगा कि जीवन का सारतत्त्व आत्मा की उपलब्धि है। आत्मा की अनुभूति से शान्ति और सुख प्राप्त होगा, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना का सही रूप में दर्शन होगा। यद्यपि आज अनैतिकता का दौरदौरा है। मानवता का रूप-सौन्दर्य विकृत होता जा रहा है। धनबल और शरीरबल अर्जित करने पर लक्ष्य दिया जा रहा है। लेकिन इस स्थिति का परिणाम भी हमारे समक्ष है। इस प्रेयमार्ग एवं शाश्वत के प्रति आस्थाहीनता की विषम व्याधि से सुरक्षित रहना है तो अपने जीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ना होगा।

आध्यात्मिकता की ओर जीवन को मोड़ने के उपायों एवं आत्मरमण करने वालों की वृत्ति का संकेत करने के लिये श्रद्धेय आचार्यप्रवर की दैनंदिनी से संकलित विचार हमारे लिये दिशाबोधक होंगे, ऐसा मेरा निश्चित मत है। ये विचार अपने-आप में स्पष्ट हैं—अतएव उनके बारे में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने जैसी धृष्टता होगी। अतएव यहां अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूं। पाठक मुझे इसके लिये आज्ञा देंगे और दैनंदिनी के विचारों को जीवनवृत्ति का अंग बनायेंगे।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर
सं. 2039, भाद्रपद शुक्ला 10

श्रद्धावनत
देवकुमार जैन

अन्तर्दर्शन

अनुभूति आत्मा का निजी आलोक है। वह किसी का आरोपित या उधार लिया हुआ नहीं होता। आत्मन् का साधक अनुभूति के आलोक में ही जीता है। उसकी साधना का लक्ष्य होता है—आत्म-साक्षात्कार। आत्म-शोधी का मार्गदर्शक आत्मज्ञ ही हो सकता है, वही उसे आलोक का संकेत-बोध दे सकता है। जहाँ अनुभूति का आलोक होगा, वहां पुस्तकीय ज्ञान का विशेष प्रयोजन नहीं होगा, वहाँ मनश्चेतना को शब्दों की शृंखला में आबद्ध करना हास्यास्पद ही होगा। जहाँ 'आंखिन देखी' (अनुभूति) की ही सार्थकता होगी वहाँ 'कागद लेखी' से प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। ग्रन्थ के पास आत्मा नहीं होती, अतः आत्मज्ञान भी नहीं होता। आत्मज्ञ केवल उच्चस्तरीय चेतना ही हो सकती है, जड़ग्रन्थ नहीं। विश्व का कोई ग्रन्थ नहीं जो महावीर, गौतम, बुद्ध, राम, कृष्ण अथवा ईसा बन सके।

प्रभु महावीर का उद्‌घोष है—

"सुबहुंपि सुयमहीयं किं काहिइ चरण विप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता दीव सयसहस्स कोडी वि ॥

('चारित्र-अनुभूति-बोध से रहित व्यक्ति के लिए विपुल शास्त्र-अध्ययन भी व्यर्थ है, जैसे कि अन्धे के आगे लाखों-करोड़ों दीपक जलाना व्यर्थ है।')

अन्धे व्यक्ति के समक्ष एक दीपक जलाओ कि लाख, कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अनुभूतिहीन व्यक्ति एक ग्रन्थ पढ़े कि अनेक, ग्रन्थ उसे अनुभूति नहीं दे सकता है। ग्रन्थ की उपादेयता अथवा उपयोगिता मानसिक एवं बौद्धिक विकास तक ही सीमित है। पांडित्य के लिए ग्रन्थ उत्तम साधन हैं। विद्वान् के लिए पुस्तक महत्त्व की वस्तु है, किन्तु आत्मशोधी के लिए किताब का विशेष मूल्य नहीं है, आत्मान्वेषक के साथ किताब का कोई गहरा सम्बन्ध नहीं होता है। एक आत्मज्ञानी संसार के ग्रन्थों के समुच्चय का भी अतिक्रमण कर जाता है। उसकी अन्तःप्रज्ञा समस्त ग्रन्थों से ऊपर होती है, क्योंकि उसके पास अनुभूति-बोध है—आंखिन देखी है। और ऐसा कहना ग्रन्थों की महत्ता के विरुद्ध नहीं है। किन्तु जहां विशुद्ध आत्मज्ञान का साक्षात्कार होगा, वहाँ ग्रन्थों की मुखापेक्षिता स्वतः समाप्त हो जाएगी।

शास्त्र—ग्रन्थ साधन हो सकता है, साध्य नहीं। उससे साध्य-विषयक प्रेरणा ली जा सकती है। शास्त्र भवन नहीं है, वह भवन का नक्शा है। नक्शा समझना महत्त्वपूर्ण अवश्य है, किन्तु उसमें निवास नहीं किया जा सकता है। किन्तु वर्तमान परिवेश में शास्त्रों के साथ यह विडम्बना हो रही है कि शास्त्रों के निकट रहने वालों ने उसके नक्शेपन को भुला दिया है और उन्हीं में निवास का असफल प्रयास प्रारम्भ कर दिया है। वे नक्शे इतने मनमोहक हैं कि कुछ पण्डितों ने उनके मानचित्र बनाने का व्यवसाय ही कर लिया है। इसीलिए शास्त्रों के सम्पर्क में जाने वाले प्राय: व्याख्याकार अथवा टीकाकार बनते रहे हैं, और वह भी प्रतिकृतियों के माध्यम से। वे आत्मन् की दिशा में जाना विस्मृत कर गये और विश्व को शास्त्रों का महत्त्व ही बताते रह गये हैं।

शास्त्रकारों ने स्वयं शास्त्रों की सीमा बताई है। ग्रन्थों में यहां तक कहा गया है—

"अधीत्य ग्रन्थाऽपि भवन्ति मूर्खा: ।"

(हजारों ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त भी अनुभूतिमूलक आचरण के अभाव में व्यक्ति मूर्ख की कोटि में ही आते हैं।) शास्त्र समुच्चयरूप से शब्द-बोध है। यदि केवल शब्दबोध से आत्मन् को नहीं जाना जा सकता है तो शास्त्रबोध से भी पूर्णतया नहीं जाना जा सकता है। सही अर्थों में आत्मन् का बोध मुक्ति की ओर ले जाता है, कोरा शब्दबोध बन्धन की ओर ले जाता है। अत: केवल शास्त्रों को पकड़ने वाले स्वयं पकड़ लिये जाते हैं। भगवान महावीर के ये स्वर इस सत्य के उद्घोषक हैं—"सव्वे सरानियट्टन्ति ।"

(मुक्ति-बोध अथवा अनुभूति-बोध में सभी शब्द-शास्त्र निवृत्त हो जाते हैं।)

वैदिक ग्रन्थों के अप्रतिम भाष्यकार आदि गुरु-शंकराचार्य ने शास्त्रों की उभयमुखी निष्फलता का प्रकाशन करते हुए उनकी सीमा के विषय में सावचेत किया है—

अविज्ञातेऽपि यातेपु शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञातेऽपि यातेपु शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥

(शास्त्रों के अध्ययन से उपार्जित बुद्धि यदि आत्मज्ञान तक नहीं ले जाती, तो वह सर्वथा निष्फल जाती है। केवल अध्ययन-पठन का कोई मूल्य नहीं है। दूसरी ओर जब कोई व्यक्ति आत्मज्ञ हो जाता है, तो उसके लिए शास्त्र प्रयोजनहीन हो जाते हैं।)

ग्रन्थकारों ने सत्य एवं तथ्य को छिपाने का प्रयास नहीं किया है। उन्होंने सत्य को अचूक अभिव्यक्ति दी है। उनकी पक्षपातरहित उक्तियां उनकी महिमा का परिचय दे रही हैं। वे स्वयं सन्देश देते हैं कि 'न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि' मुक्ति की अवाप्ति न वेदों के अध्ययन से सम्भव है और न शास्त्रों के पठन-पाठन से। इसी दृष्टिकोण को समक्ष रखते हुए शास्त्रकारों ने संकेत किया है कि शास्त्र की सीमा-मुक्ति-बोध-अनुभूतिबोध या आत्मज्ञान के पूर्व तक है। आत्मज्ञान की उपलब्धि अथवा आत्मज्ञता के पश्चात् शास्त्र उसी प्रकार निरुपयोगी हो जाते हैं, जैसे धान्यार्थी के लिये पुआल।

"पलालमिव धान्यार्थी सर्व-शास्त्राणि संत्यजेत्"

अभीष्ट धान्य है, पुआल नहीं, पुआल सामान्य व्यवसाय की वस्तु है। वह इष्ट नहीं है। आत्मज्ञता व्यवसाय नहीं है। वह साधक के लिए परम इष्ट है।

इतना होने पर भी आत्मज्ञता की दिशा में प्रारम्भिक पद चरण हेतु शास्त्रों की उपयोगिता निर्विवाद है। यह सत्य है कि उन्हें एक सीमा पर पहुँचकर छोड़ देना होता है, उनकी पकड़-जकड़ को ढीला कर देना होता है। किन्तु उन्हें किसी भूमिका तक सर्वथा उपादेय स्वीकार किया गया है। यही नहीं शास्त्रों के एक वाक्य को ही आत्मन् की दिशा में अनुभूति के जागरण में माध्यम माना गया है। हाँ, यह वाक्य होगा अनुभूतिबोध से पचाया हुआ। कहा है—

"मुक्तिदा गुरुवागेका, विद्याः सर्वाविडम्बिका"

मुक्तिप्रद तो केवल गुरु की वाणी है। आत्मान्वेषी के लिए गुरु की वाणी ही एकान्त सम्बल है। आत्मान्वेषी को आत्मज्ञानी गुरु ही प्रकाश दे सकता है। गुरु की महत्ता इसीलिए स्वीकृत हुई है कि उसके पास अनुभूति की आंख है—अनुभूतिमूलक प्रज्ञा है।

इसीलिए गुरु-शिष्य-परम्परा की महिमा के स्वर मुखरित हुए हैं। इसीलिए श्रेष्ठ गुरु और सुयोग्य शिष्य के संयोग को सौभाग्य माना गया है। गुरु दीपशिखा के तुल्य होता है, जो दीप से दीप को प्रज्वलित करते हुए ज्ञान की धारा को कालप्रवाह के समानान्तर ले चलने का ऊर्जस्विल मार्ग प्रस्तुत करता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

जह दीवा दीव सयं पईप्पए सोय दीप्पए दीवो।
दीवसमा आरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥

(जैसे दीपक स्वयं प्रज्वलित—प्रकाशमान् होता हुआ अपने स्पर्श से सैकड़ों दीपकों को ज्योतित कर देता है, उसी प्रकार सद्गुरु (आचार्य) स्वयं ज्ञानज्योति से ज्योतिर्मय होते हैं और ज्योतिर्मयता का एक अविच्छिन्न क्रम स्थापित करते हैं ।)

दीपक आवश्यक है—वस्तुबोध के लिए, किन्तु प्रज्वलित दीपक, बुझा हुआ नहीं । शास्त्र आवश्यक है, किन्तु केवल शास्त्र नहीं, उसके साथ गुरु की प्रज्ञा का होना नितान्त अपेक्षित है ।

निर्ग्रन्थ श्रमणसंस्कृति आत्मज्ञान—आत्मानुभूति की संस्कृति है । वहाँ चेतना-बोध का जो महत्त्व है, वह शास्त्र-बोध का नहीं । प्रारम्भ में सभी कुछ ज्ञान गुरु-शिष्य की कर्ण-परम्परा अथवा अनुभूतिप्रदान-परम्परा से ही अनुबद्ध था । स्मृतिभ्रंश ने ग्रन्थों का निर्माण किया । किन्तु वह विवशता आज के परिवेश में अनिवार्यता के रूप में रूपान्तरित हो गई । निर्ग्रन्थ श्रमणसंस्कृति ने अपने केन्द्रक के रूप में आत्मज्ञान को ही स्वीकार किया । परिणामतः यह संस्कृति अतिसूक्ष्म पर अवलम्बित हुई । विशुद्ध ज्ञानमार्ग पर चलने के साथ कठोर त्याग और तप का विधान है इसमें । आत्मज्ञानपूर्वक तप अनन्त आनन्द के द्वार उद्घाटित करता है ।

प्रस्तुत कृति के आलेखक समताविभूति आचार्य श्री नानालालजी म. सा. हैं, जो श्रमणसंस्कृति की वरिष्ठ परम्परा के नायक हैं और उन्नायक भी । अनुभूतिमूलक साधना उनका जीवन्त संकल्प है । आपश्री एक महिमा-शाली जैनाचार्य हैं । भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त श्रमण-जीवन की मर्यादाओं की अक्षरान्त अनुपालना के आप ज्वलन्त प्रतीक हैं । इस निष्ठागत साधुचर्या का ही परिणाम है कि आप तत्त्वज्ञता के क्षेत्र में आज की एक गरिमामय विभूति हैं । आत्मन् से साक्षात्कार के ओजस् संकल्प ने ही आपको श्रमण जीवन अंगीकार करने की प्रेरणा दी और उसी के साक्ष्य में आपने उस मूल्य की प्राप्ति के लिए अपने समग्र पुरुषार्थ का समर्पण कर दिया । आज आप गुरुत्व की पावनता के महिमामय प्रतीक हैं । आपकी अनुभूतिमूलक वाणी, आपके समता सन्देश एवं तत्सम्बन्धी साहित्य से जिनका परिचय है, उन्हें आपके व्यक्तित्व पर गर्व है । ध्यान की अप्रतिम एवं नूतन विधा 'समीक्षण ध्यान' का अनुसन्धान कर आपश्री ने आज के तनावग्रस्त विश्व को तनावमुक्ति एवं आत्मशान्ति की ओर अग्रसर होने का प्रशस्त पथ प्रदान किया है ।

प्रस्तुत दैनंदिनी में आपश्री के अनुभूतिमूलक चिन्तन-कणों का संकलन है और हैं गहरी पर्त के वे हस्ताक्षर जो 'आत्मन्' की दिशा में गति प्रदान करते हैं। वे हस्ताक्षर नितान्त अनुभूति के अक्ष हैं—किसी ग्रन्थ के उद्धरण नहीं। हाँ, इस आलेखन में तत्कालीन वातावरण एवं भाषा का प्रभाव अवश्य अंकित हुआ है। अपने देहली प्रवास की अनुभूतियों के लेखन में वहाँ की उर्दू मिश्रित हिन्दी भाषा का प्रभाव पाठकों को यत्र-तत्र परिलक्षित होगा।

यहाँ पाठकों का ध्यान इस बात की ओर विशेष आकर्षित करना चाहूँगा कि इन अनुभूतिमूलक चिन्तनकणों में आचार्यप्रवर के मुनिजीवन (सन् 1951) के चिन्तनकण भी हैं, जिनमें आचार्यश्री के व्यक्तित्व एवं साधना की ऊषाकालीन (9 वर्ष की दीक्षापर्याय की) ऊर्ध्वमुखी चेतना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। साधना के वसन्त में ही आचार्यश्री कितने ऊर्जस्वल चिन्तन-प्रधान व्यक्तित्व के स्वामी थे, यह बोध होता है आचार्यश्री के इन चिन्तन-कणों से। इन अनुभूति के अक्षों को मोटा-मोटी चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(1) **आत्मानुशासन**—साधक का मूल चिन्तन स्वभावत: स्व-केन्द्रित होता है। इस कृति में कुछ चिन्तनकण आचार्यप्रवर के अपने साधनाकाल के हैं, जो अपनी साधना और विकास के विभिन्न सोपानों पर अपने मन को उद्बोधित एवं सचेत करने से सम्बद्ध हैं। इन उद्बोधनों की शैली अनूठी है, अत: उपदेशात्मक प्रसंगों से इन्हें सहजतया अलग करके देखा जा सकता है।

(2) **सोपान-निरूपण**—लेखक—आचार्यप्रवर ने साधनाकाल में उत्थान के विभिन्न स्तरों का अनुभव किया और उन पर आने वाली बाधाओं को स्वरूप-विवेचन द्वारा पहचाना भी है। साथ ही साधना-क्रम में उनके निराकरण के लिए सूक्ष्म विधान का विवेचन भी कर दिया है।

(3) **विरल अनुभव**—अनेक प्रसंग आचार्यप्रवर की उन अनुभूतियों के परिचायक हैं, जो आत्मदर्शियों की उपलब्धियों को संकेतित करते हैं। इन तलों पर यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि जगत और स्वप्न-जगत भी किस प्रकार आध्यात्मिक सत्य के ही सन्देशवाहक हो जाते हैं।

(4) **विवेकवृत्त**—आचार्यप्रवर ने अनेक स्थलों पर वैचारिक धरातल के आधार पर अनेक प्रसंगों का तत्त्वनिरूपण भी किया है। ये वृत्त जितने सही साधनामार्ग पर उतरने वाले हैं, उतने ही सही सामान्य जीवनतल पर भी उतरने वाले हैं।

आचार्यप्रवर के लिए कम-से-कम इस दैनंदिनी के साथ 'लेखक' शब्द का प्रयोग समीचीन नहीं लग रहा है, क्योंकि डायरी लिखते जाने का उनका कोई आग्रह परिलक्षित नहीं होता। इसीलिये इस विरल सामग्री के पीछे भी अनेक वर्ष समाहित हो गए हैं। जब तक कोई विशेष अनुभूति दिशा-निर्देशन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं हुई, आचार्यश्री ने उसे नहीं लिखा है। इसीलिए कहीं-कहीं दो पृष्ठों के मध्य दीर्घकालावधि का अन्तराल व्याप्त है। यह ध्रुव सत्य है कि इन अनुभूतियों को शब्दबद्ध करते समय आपश्री की यह कल्पना भी नहीं रही कि ये जन-सामान्य के समक्ष प्रकाश में आऐगी। आत्मबोध में सतत सावधानता के लिए ही आचार्यप्रवर इन चिन्तनकणों को शब्दबद्ध करते गये हैं।

मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि अनन्त-अनन्त सुकृतों के प्रभाव से मुझे यह पावन चरणाश्रय प्राप्त हुआ है। अध्यात्मसाधना की पगडण्डी पर पद—चरण का पाथेय प्राप्त हुआ है, यह चिन्तन मेरे लिए भावविभोर कर देने वाला ही है। सहज संयोगतः ये डायरियां मेरे हाथों लग गईं और मैं इन पर दो शब्द लिखने की धृष्टता कर बैठा। आचार्यप्रवर के अनुभूतिमूलक चिन्तन पर कुछ लिखना धृष्टता नहीं तो और क्या हो सकता है ?

आशा है, यह अमूल्य सामग्री अध्यात्मप्रेमियों को बहुत सम्बल प्रदान करेगी।

—शान्तिमुनि

गहरी पर्त के हस्ताक्षर

आचार्य श्री नानेश

सामूहिक शक्ति से सम्पन्न कार्य सस्ता, सहज एवं सफल होता है।

सूक्ष्म निरीक्षण दूरदर्शिता का द्योतक है। वह इन्सान को आपत्तियों से वचा लेता है।

दिनांक 18-5-51

धृति-सहित कृति कला का रूप ले लेती है। जबकि धृति-रहित कृति निर्जीव परिश्रम मात्र है।

प्रत्येक प्राणी अपने वचाव का उपाय अपने आप सोचता है, इसी से वह विकास की ओर बढ़ता है।

दिनांक 19-5-51

आत्मन्! जैसा तुम बनना पसन्द करते हो, वैसा ही प्रत्येक व्यक्ति को देखो। तुम ईश्वर बनना चाहो, तो हर व्यक्ति को ईश्वर के रूप में देखो। तुम्हारे साथ कोई नीचता का व्यवहार करता है, तो तुम उसकी नीचता को-नीचता रूप को मत देखो, अपितु उसको विकास की शक्ति के रूप में देखो। कोई अच्छा कहे या बुरा, इसका खयाल मत करो, वल्कि पवित्र हृदय क्या कहता है, उस पर विशेष ध्यान दो।

दिनांक 20-5-51

जिसमें जितनी सजावट होगी, उसमें उतना ही नकलीपन होगा। आडम्बर दम्भता का द्योतक है। जिसको वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं होता, वही आडम्बर को पसन्द करता है।

दिनांक 23-5-51

पूर्ण ब्रह्मचारी ही वास्तविक जीवन जी सकता है। नियमित, संयमित सात्विक आहार-विहार इसमें वहुत सहायक सिद्ध होता है।

दिनांक 24-5-51

सादगी जीवन को पुष्ट करती है।

निर्भयता ही जीवनविकास की प्रथम भूमिका है।

दिनांक 25-5-51

तुम अपने जीवन का एक लक्ष्य निर्धारित कर लो और उसी लक्ष्य का ध्यान रखते हुए कर्तव्य (कर्म) करते रहो, सफलता अवश्य मिलेगी।

सभी प्राणियों को अपनी अपनी योग्यतानुसार समानाधिकार प्राप्त है। अतः अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु दूसरों के अधिकारों का हनन मत करो।

दिनांक 26-5-51

प्राणी का विकास या ह्रास उसके मन पर आधारित है। इसमें वाह्य वातावरण अथवा परम्परागत संस्कार भी निमित्त वन सकते हैं, परन्तु यह कमजोर मन की अवस्था है। शक्तिशाली मन वाले व्यक्ति को संसार के कोई भी पदार्थ गिराने में समर्थ नहीं हो सकते। मन को शक्तिशाली बनाने के लिए दृढ़ संकल्पपूर्वक लक्ष्य प्राप्ति में लग जाना चाहिए।

दिनांक 27-5-51

स्वच्छ मन एवं शान्त मस्तिष्क से प्रकट किये गए विचार अमूल्य एवं कल्याणप्रद होते हैं। स्वानुभूति पूर्वक प्रयुक्त सीधे-सादे वाक्य जितने असरकारक होते हैं, उतने इधर-उधर से लिए हुए पाण्डित्यपूर्ण वाक्य नहीं। वचन एक दर्पण है। चतुर पुरुष वचनों के अन्दर इन्सान का आन्तरिक प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।

दिनांक 28-5-51

किसी भी कार्य की आत्मा में तन्मय होने पर ही उस कार्य में सफलता मिल सकती है। तन्मयता में दो दृष्टियां हैं—आसक्ति और अन्वेषणा। आसक्त प्राणी उसी में विलीन हो जाता है। अन्वेषक उसमें से शक्ति-संपादन कर उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है। विवेक पूर्ण तन्मयता से विकास हो सकता है, पर अविवेक से ह्रास। परिस्थिति से विचार बनते हैं, पर विचारों से भी परिस्थिति बनती है।

दिनांक 30-5-51

धैर्य कभी नहीं छोड़ना चाहिये। कर्तव्य-निष्ठा से सत्य कर्म करने वाले को आपत्तियां आने पर भी सफलता अवश्य मिलती है। निष्काम भाव से कर्तव्य पालन करने वाले को सर्वतोमुखी फल अवश्य मिलता है, जिससे वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

'अमुक कार्य करूं, पर मेरे पास साधन नहीं हैं' ऐसा चिन्तन उस के मन की अपरिपक्वता का द्योतक है। अगर वह सच्चे दिल से कार्य में लग जाय, तो सभी प्रकार के साधन, मिठास पर चींटियों की तरह सहज ही उसके पास आ जायेंगे।

दिनांक 31-5-51

हे आत्मन्! सारा संसार भी यदि तुम्हारी निन्दा-भर्त्सना व तिरस्कार करे, तो तू लेशमात्र भी उत्तेजना व उदासीनता मत ला, बल्कि इसके विपरीत यह चिन्तन कर कि यह सब किस कारण से हो रहा है ? अगर उसमें कोई वास्तविक कारण मालूम हो जाय, तो उस को दूर करने की कोशिश कर और निन्दा आदि को सहायक रूप में देख।

प्रशंसा जहरीले सर्प के समान है। अगर इसका विष तुझे चढ़ गया तो तू नष्ट हो जायेगा।

ब्रह्मचर्य जीवन का मूल है। इसी से जीवन की सारी रौनक है। आधुनिकता के भुलावे में आकर इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसकी उपेक्षा करना सारे जीवन की महत्ता को तिलाञ्जलि देना है।

दिनांक 1-6-51

प्रतिष्ठा का भय जीवन को स्वाभाविकता से दूर हटाता है। मेरी प्रतिष्ठा कैसे रहे, यह धुन आत्मविकास में वाधक है। मैं सत्य कैसे प्राप्त करूँ, यह धुन आत्मा को ऊपर उठाने वाली है।

दिनांक 2-6-51

आजकल युद्ध को जो अत्यधिक घातक प्रवृत्ति चल रही है, लगता है वह आगामी 25 वर्षों में दूसरा ही रूप धारण कर लेगी। उस परिवर्तन के द्वारा जनता का जीवन-स्तर धीरे-धीरे ऊपर तो उठेगा, किंतु वह अधिक समय लेगा।*

दिनांक 3-6-51

दिल के विचारों से देह का निर्माण होता है। जैसा दिल वैसी देह। बुद्धि से संस्कार पैदा होते हैं और संस्कारों से बुद्धि का निर्माण कदाचित्।

दिनांक 4-6-51

आवेश दिल की कमजोरी का सूचक है। आवेश में आकर किया जाने वाला कार्य त्रुटिपूर्ण होता है। अतः सत्यान्वेषक को आवेश से दूर रहना चहिये।

दिनांक 5-6-51

जिस प्रेम से शक्तिसंचय होता है, वही वस्तुतः सच्चा प्रेम है। जिससे शक्तियों का नाश होता है, वह प्रेम नहीं है।

मृत्यु प्रत्येक देहधारी की वृत्ति है। इस पर विजय पाना मृत्यु को परास्त करना है।

दिनांक 6-6-51

---

*इस भविष्य कथन को आज हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं।

मनुष्य प्रात:काल उठकर पानी से स्नान करता है। उससे जीवन से कुछ स्फूर्ति आती है। मगर उसी समय विचारों से मानसिक स्नान कर लिया जाय तो चिरस्थायी जीवनविकास की स्फूर्ति प्राप्त हो सकती है।

कृत्रिमता देखने में सुन्दर मालूम होने पर भी अहितकर होती है। स्वाभाविकता देखने में अच्छी मालूम न होने पर भी हितकर होती है।

किसी अभिलाषा से किसी की प्रशंसा करना इन्सानियत से गिरना है।

दुनिया के पीछे चलने वाला प्राणी अपना विकास नहीं कर सकता है। उसका जीवन अनुकरणीय नहीं होता है।

दिनांक 7-6-51

मैंने इस विश्व में जन्म लिया है। मानवोचित पदार्थों पर सबका स्वाभाविक जन्मसिद्ध अधिकार है। अत: मैं किसी की गुलामी या चापलूसी क्यों करूँ? मुझे अपने कर्तव्य को ध्यान में रखकर विवेक-पूर्वक पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। आवश्यकता की पूर्ति अवश्य होगी। आत्म-ग्लानि कभी नहीं होनी चाहिए।

अनावश्यक एवं व्यर्थ चिन्तन को दूर कर सदा प्रसन्नचित रहना चाहिए। वाह्य प्रवृत्तियों व परिस्थितियों में समय-समय पर रूपान्तर व परिवर्तन होने पर भी आवश्यक कार्य किसी-न-किसी रूप में होते ही रहते हैं।

दिनांक 8-6-51

पैनी निगाह से देखा जाय तो वर्तमान प्रचलित परीक्षोपयोगी साहित्य साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से ओत-प्रोत ही मिलेगा। ऐसे साहित्य से विद्यार्थी विकास की प्रकाशमय किरणों को छोड़कर अन्धकार में भटकता रहता है। क्योंकि वचपन में ही वह अन्धपरम्परा की कोल्हू का वैल वना दिया जाता है। फिर वह आगे कैसे वढ़ सकता है?

रूढ़िपूर्ण विनाशकारी परम्पराओं को सामान्य मनुष्य नहीं हटा सकता। उसे हटाने में वास्तविक ज्ञान व साहस की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

अनुवादित पदार्थ का उतना महत्व नहीं, जितना आविष्कृत पदार्थों का है।

दिनांक 9-6-51

दुनिया क्या देख रही है? इस पर विचार मत करो। तुम क्या देख रहे हो, इसी का विचार करो। इस काम से दुनिया क्या कहेगी, यह न सोचकर, मेरी पवित्रात्मा क्या कहेगी, यह सोचो।

दिनांक 10-6-51

अतीत अवस्था का स्मरण, वर्तमान का अनुभव, भविष्य का चिन्तण सामने रखकर प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति जीवन में सफलता का अनुभव करता है।

दिनांक 11-6-51

जीवन को किसी पवित्र कार्य में लगा देना चाहिए। कार्य की पवित्रता लक्ष्य के अनुसार आंकी जा सकती है। अर्थात् लक्ष्य पवित्र है तो उसे प्राप्त करने के लिए साधन रूप कार्य भी पवित्र है। अगर लक्ष्य अच्छा नहीं है तो उसे प्राप्त करने के लिए ऊपर से अच्छे मालूम होने वाले साधन रूप कार्य भी पवित्र नहीं कहे जा सकते।

दिनांक 12-6-51

मामूली-सा वैभव पाकर आपे से बाहर होना क्षुद्र मन का काम है। मन को शिक्षा से अनुशासित करना चाहिए। शिक्षा का वास्तविक ध्येय विज्ञानपूर्वक शरीर का उपयोग होना चाहिए। अक्षरीय ज्ञान की ऊंची-से-ऊंची डिग्रियां प्राप्त कर लेने के बावजूद जो जीवन का विवेकपूर्वक उपयोग नहीं कर पाता. वह जड़बुद्धि कहा जा सकता है। अक्षरीय ज्ञान विशेष नहीं होने पर भी जो विवेकपूर्वक जीवन का उपयोग करता है, वह वास्तविक शिक्षाविद कहा जा सकता है।

दिनांक 13-6-51

एक वार में किसी कार्य में सफलता न मिले तो हतोत्साह नहीं होना चाहिए। अपितु उसी कार्य को उसी उत्साह के साथ निरन्तर करते रहने पर अवश्य सफलता मिलती है।

दिनांक 14-6-51

किसी भी वस्तु को स्वपुरुषार्थ से प्राप्त करना चाहिए। प्राकृतिक साधनों से प्राप्त वस्तु चिरस्थायी एवं सुखप्रद होती है। परपौरुष और अप्राकृतिक साधनों से प्राप्त (सम्पादित) वस्तु चिरस्थायी एवं पूर्ण सुखप्रद नहीं होती।

दिनांक 15-6-51

इन्सान की बुद्धि नदी के पानी की तरह प्रायः अपने दायरे में घूमा करती है। कभी-कभी तूफान आने पर नदी का पानी इधर-उधर फैलकर नयी नदी भी तैयार करता है। वैसे ही मनुष्य की बुद्धि भी कभी-कभी नया रास्ता एवं नयी वस्तु का निर्माण भी करती है।

दिनांक 17-6-51

मनुष्य सोचता है कि मैं दूसरों को चकमा (धोखा) दे रहा हूँ। मगर यह नहीं सोचता है कि मैं अपने आपको चकमा (धोखा) दे रहा हूँ। दूसरा अगर सावधान है, तो तुम्हारे चक्कर में नहीं आयेगा। पर तुम तो आ ही जाओगे। जब तक प्राणी अपने आपको धोखा देना नहीं त्याग देगा, तब तक वह स्थायी शान्ति नहीं पा सकेगा।

मनुष्य को अपनी शक्ति व समय बाह्य पदार्थों के लालित्य में व्यर्थ खर्च न कर आवश्यकतानुसार वस्तुस्थिति को पहचानने में लगाना चाहिए।

इन्सान में इन्सानियत है, तो उसे कानून-कायदे की आवश्यकता नहीं। अगर वह इन्सान के रूप में भी पिंजरे का पक्षी है, तो अवश्य कानून-कायदे की आवश्यकता हो सकती है।

दिनांक 18-6-51

संघर्ष ही जीवन है। संघर्ष के बिना जीवन जड़तुल्य कहा जा सकता है। प्राणी का विकास संघर्ष से ही हुआ और होता रहेगा। एक मनुष्य किले के अन्दर रहकर ही युद्ध करता है, दूसरा मैदान में आकर। अन्दर वाला कम शक्ति होते हुए भी अधिक कामयाब हो सकता है बनिस्वत मैदान वाले के। मगर इसका यह मतलब नहीं कि वह मैदान में आये ही नहीं। मैदान से आये बिना उसको पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। किले के अन्दर रहकर आत्मशक्तियों को मजबूत व पूर्णत: अधीनस्थ कर ले। इसके बाद वह मैदान में उतरे तो कहीं पर भी उसको असफलता नहीं मिल सकती।

जन्म के साथ ही अनुकूल और प्रतिकूल दो प्रकृतियों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु इसका अनुभव युवावस्था में स्पष्ट रूप से होता है। उस समय प्रतिकूल प्रकृति घातक व विनाशकारी समझी जाती है और अनुकूल प्रकृति जीवन में विकास रूप से देखी जाती है। अनुकूलता की ओर झुकाव होता है, अतएव उसी को स्वाभाविक आकर्षण मानकर जीवन को ठप्प कर दिया जाता है और प्रतिकूलता को अस्वाभाविक एवं कृत्रिम मानकर उससे मुँह मोड़ लिया जाता है, किन्तु विचार किये बिना ही अनुकूल प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल प्रकृति के प्रति उदासीनता कहाँ तक उचित है? क्या यह जड़ता अथवा संकल्प-शून्यता नहीं है? सहसा किसी भी प्रकृति के चक्कर में आ जाना खतरनाक है। अत: विवेकपूर्वक दोनों प्रकृतियों से संघर्ष करता हुआ प्रगतिशील मनुष्य ही पूर्ण विकास कर सकता है। अत: संघर्ष सजीवता का द्योतक है।

दिनांक 19-6-51

यदि इन्सान शान्त मस्तिष्क से दृढ़ संकल्पपूर्वक क्रियात्मक रूप से कार्य में लग जाय तो संसार की कोई भी ताकत उसे असफल नहीं कर सकती। फल को देखने वाला आगे नहीं बढ़ सकता। कर्त्तव्य को देखने वाला ही आगे बढ़ सकता है।

दिनांक 20-6-51

बुद्धिमान मनुष्य वही है जो अपने जीवन से दुनिया को नई प्रेरणा देकर नवीन वस्तु की ओर आकर्षित करे।

आन्तरिक द्वन्द्व को शान्त करने की कला जिसको आ गई, वह बाहर के द्वन्द्व को सहज ही शान्त कर सकता है।

दिनांक 21-6-51

नेत्रप्रेम और नेत्रमोह दोनों में महान् अन्तर है। नेत्रप्रेम भ्रातृ-भाव और विश्ववात्सल्य से ओत-प्रोत होता है। जबकि नेत्रमोह में व्यक्तिभाव, शत्रुभाव और वैयक्तिक वात्सल्य रहता है। पहला मित्र है, आगे बढ़ाने वाला और दूसरा शत्रु है, नीचे गिराने वाला।

दिनांक 22-6-51

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जीवन का स्वाभाविक अधिकार है। इस पर प्रतिबन्ध कहीं पर नहीं होना चाहिए, मगर समाज के सामान्य नियमों से व्यक्ति को अलग भी नहीं होना चाहिए। व्यक्ति-समूह ही समाज है। विकास व साधन की दृष्टि से उसकी परमावश्यकता है। मगर वह प्रामाणिक व्यक्तियों का समाज है" प्रामाणिकता सद् आचरण से आ सकती है, कहने मात्र से नहीं।

दिनांक 23-6-51

यह शारीरिक सम्पदा जीव को कुदरत से प्राप्त हुई है। इसमें खजान्ची के तौर पर मन है और आत्मा अध्यक्ष है। अत: आत्मा का यह कर्तव्य हो जाता है कि मन पर पूरा अंकुश रखे। यह सम्पत्ति व्यर्थ या अनावश्यक कार्यों में व्यय न हो और न इस पर साम्राज्य वृत्ति ही आने पावे। अगर ऐसा ध्यान नहीं रखा गया तो इस अमूल्य सम्पत्ति से कुछ भी सत्कार्य नहीं होगा। यह व्यर्थ ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी।

दिनांक 24-6-51

प्राणी के विकास में भय सबसे अधिक बाधक है। इस पर विजय पाना सामान्य काम नहीं हैं। यह हर समय प्राणी को गिराता रहता है। उदासीनता एवं मलीनता इसी की सहचरी हैं। निर्भय प्राणी कभी हतोत्साह नहीं होता। उसके मन पर कभी ग्लानि या सुस्ती नहीं आती। सत्यपालन में निर्भय व्यक्ति ही सफल हो सकता है। जीवन का विकास या नवीन खोज निर्भय व्यक्ति ही कर सकता है और वही वास्तविक प्रामाणिक पुरुषों की श्रेणी में गिना जा सकता है।

जो व्यापार के तौर पर उपदेश देता है, वह उसे जीवन में बहुत कम उतारता है, क्योंकि उसका लक्ष्य उपदेश द्वारा यश अथवा सम्पत्ति कमाना होता है। जो व्यापार के तौर पर नहीं, अपितु स्वानुभूति को जिज्ञासुओं के समक्ष रखता है, वह अपने जीवन में अधिक आचरण करने वाला होता है, क्योंकि उसका लक्ष्य जीवनसुधार का होता है, न कि प्रशंसाप्राप्ति का।

दिनांक 25-6-51

दृढ़ निश्चय एवं तदनुसार आचरण ही सफलता की कुञ्जी है। किसी भी तरह की आपत्ति से लेशमात्र भी नहीं घबराना चाहिए। आपत्ति को आपत्ति न मानकर जीवन-विकास की साधन-सहचरी मानना चाहिए।

दिनांक 26-6-51

पशु-पक्षियों में भी समाज-व्यवस्था देखी जाती है। उनमें किसी को अपराध करने पर सामूहिक या व्यक्तिगत दण्ड मिलता है। पशु-पक्षियों में जैसे भी अनुकूल या प्रतिकूल साधन होते हैं, उसका वे यथावसर उपयोग करते हैं। जब कभी विजातीय आक्रमण होता है, तो स्वजातीय अपराधों को गौण कर वे सामूहिक एकता से प्रत्याक्रमण करते हैं। उनमें भी साम्राज्यवृत्ति और समाजवादवृत्ति दोनों ही पाई जाती हैं। अनुशासन-व्यवस्था इनमें अच्छी होती है। उनमें ईमानदारी अधिक होती है, बेईमानी बहुत कम। उनमें प्रेम या मुग्धता भी अपेक्षाकृत अच्छी होती है। उनकी अपनी सांकेतिक भाषा होती है। आज का मानव जरा तुलना करे अपने आप से इसकी।

दिनांक 26-6-51

सुख और सम्मान के लिए लालायित मत रहो। अपमान और दुःख से दूर मत भागो। जहाँ अपमान होता हो, चित को दुःख व संक्लेश पैदा करने वाले उत्तेजनात्मक वर्ताव हों, वहां तुम जाओ और अपने मन-मस्तिष्क की परीक्षा करो कि ऐसी अवस्था में तुम्हारा मस्तिष्क कितना शान्त रहता है ? तुम्हारे मन में कितनी पवित्रता बनी रहती है ? उस समय यदि तुम्हारा मस्तिष्क शान्त रहे, मन में अपवित्रता न आये और कर्त्तव्य कर्म पर मजबूत रह सको तो समझ लो कि तुमने कुछ इन्सानियत प्राप्त की।

देशकाल, ऋतु के परिवर्तन के साथ वातावरण और वायुमण्डल का भी परिवर्तन होता है। इसके साथ जो इन्सान अपने जीवन का परिवर्तन करता रहता है, वह सदा विजयी रहता है और जो सभी अवस्थाओं में समयानुसार परिवर्तन करने में असमर्थ रहता है, वह सदा पश्चाताप करता हुआ ह्रास की ओर अग्रसर होता है; प्रगति की ओर नहीं।

दिनांक 27-6-51

समाज का विकास व्यक्ति-विकास में अत्यधिक सहायक है। यद्यपि व्यक्ति का विकास भी उपेक्षणीय नहीं है, तथापि सामूहिक विकास के समक्ष उसे गौण माना जा सकता है। वैसे ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं; फिर भी अपेक्षाकृत दृष्टि से समाज को प्रधानता देनी होगी। समाज के लिए व्यक्तिभाव को समर्पित किया जा सकता है। समाज व्यापक है। व्यक्ति व्याप्य है। समाज अंगी है, तो व्यक्ति अंग है। अंगी की रक्षा के लिए अङ्ग को बलिवेदी पर चढ़ाया जा सकता है, पर होना चाहिए वास्तविक अंगी।

दिनांक 28-6-51

इन्सान प्रतिकूल वातावरण एवं संतप्त स्थान से हटने की कोशिश करता है। वह सोचता है कि यह मेरी प्रगति में बाधक है। ऐसा व्यक्ति सच्ची और ठोस प्रगति नहीं कर सकता। सच्ची एवं ठोस प्रगति तभी संभव है, जबकि प्रतिकूल वातावरण में प्रसन्नचित होकर प्रगति की जाय।

संसार के सभी प्राणी प्रायः बिना अपराध किसी को नहीं सताते। यह प्रकृति का नियम-सा है कि आघात होने पर प्रत्याघात होता है।

दिनांक 29-6-51

वह मेरा सत्कार करेगा, मुझे नमस्कार करेगा, मेरी प्रशंसा करेगा, अतः मैं उसे प्रेम की दृष्टि से देखूँ, मधुर शब्दों से बातचीत करूँ, जो ऐसा विचार कर ऐसा ही आचरण करता है और अपने-आपको महात्मा समझता है, तो यह उसका आत्म-पतन है। वह व्यर्थ में समय और शक्ति बर्बाद करता है। महात्मा का प्रेम निष्काम और निर्मल होता है। वह किसी आकांक्षा से किसी को नहीं देखता और न मधुर शब्दों में वार्तालाप ही करता है। उसकी दृष्टि सहज स्वाभाविक रूप से किसी पर पड़ जाती है, तो उसको आत्मीय रूप से देख लेता है। फिर वह प्राणी कोई भी हो, उसकी दृष्टि में जाति का, ऊँच-नीच का, पापी-धर्मी का भेदभाव व घृणा नहीं होती। वह प्राणी हित की दृष्टि से समय आने पर सभी से बातचीत करेगा। बिना अवसर किसी से बातचीत नहीं करेगा। उसकी समय-शक्ति व्यर्थ नहीं जाती। वह मनुष्यों की निगाह से अपने को नहीं देखता, अपितु स्वयं की पवित्र निगाह से अपने आपको देखता है।

दिनांक 30-6-51

आज का मानव समाज प्राय: गुलाम मनोवृत्ति से चल रहा है। रूढ़ि तथा परम्परा मानो जीवन की संगिनी बन गई है। बुद्धि काम-सम्राट के किले में बन्द-सी मालूम होती है। साहित्यकार, कलाकार, अध्यापक, पत्र-सम्पादक आदि में से अधिकांश लोगों ने अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्रेम के नाम पर मोह का संपादन ही मान रखा है। उनको वही साहित्य, वही कला, वही कहानी, वही समालोचना पसन्द आयेगी, जिसमें पशुवृत्ति से भी निन्दित प्रणयप्रसंगों का रोचक वृत्तान्त पाया जाता हो। इस वृत्तान्त का जो व्यक्ति अधिक रोचक ढंग से सम्पादन करता है, उसी को सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार माना जाता है। पुरस्कार भी उसी को अधिक मिलता है। वह युग का स्रष्टा-सा समझा जाने लगता है। ऐसी अवस्था में कौन व्यक्ति ऐसे श्रेष्ठ पद को पाने हेतु लालायित नहीं होगा? प्रत्येक व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण इसी पद को पाने के लिए आकाश में उड़ने की कोशिश करता है। वैसा ही साहित्य, वैसी ही गोष्ठी, वैसी ही सोसायटी और वैसे ही वायुमण्डल में वह अपने को धन्य समझता है। उसकी बुद्धि उसी दायरे के अन्दर चक्कर काटती है। उस घेरे से बाहर रह जाने पर वह अपने को अभागा, पुण्यहीन समझता है और यह दावा करता है कि मैं विकास कर रहा हूँ। यही अवस्था अधिकांश व्यष्टि एवं भमष्टि में बनी हुई है। इसको आधुनिक मानवसमाज की गुलामी न कहें, तो क्या कहें?

दिनांक 1-7-1951

जिसने जिस वस्तु का जितना बाह्य और आभ्यन्तर गहन अध्ययन व मनन किया होगा, उतना ही उस वस्तु के विषय में वह व्यक्ति अडिग एवं निर्भीक होगा। बाह्य जगत् का निर्माण आन्तरिक जगत् से होता है। आन्तरिक जगत् जितना सुसंस्कृत और विशाल होगा, उतना ही बाह्य जगत् उसके सामने उपस्थित होगा।

दिनांक 2-7-51

मन और मस्तिष्क से किये जाने वाले विवेक युक्त ज्ञान से ही जीवन में परिवर्तन आता है। मात्र दिमागी ज्ञान फोनोग्राफ की चूड़ी के समान है। उससे इच्छित लाभ नहीं हो सकता। केवल मन के ज्ञान से स्वहित कुछ अंश में हो सकता है, मगर व्यापक जनहित नहीं हो सकता। वह एक प्रकार से पंगु है।

दिनांक 3-7-51

आत्म-गर्व विकास के लिए होना चाहिये, न कि दूसरे को नीचा दिखाने के लिए।

प्रत्येक कार्य में स्वावलम्बी एवं स्वतन्त्र इन्सान ही कुछ कर सकता है।

जनहितकारी मौलिक विचार ही सच्चे रूप में जनता का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

दिनाक 4-7-51

मैं स्वयं गिरा हुआ हूं, इन्सान को ऐसा अध्यवसाय कभी नहीं लाना चाहिये। मगर जो गलती उससे हो गई हो, उसको साफ जाहिर कर देना चाहिए। भविष्य में जैसा आन्तरिक बर्ताव हो, वैसा ही वेश और वैसा ही व्यवहार होना चाहिए। आन्तरिक भावना के अनुरूप वेश एवं व्यवहार नहीं रखना अपने आपको और जनता को धोखा देना है और स्वयं को हैवान से भी नीचे स्तर पर ले जाना है।

दिनांक 5-7-51

यदि किसी वस्तुविशेष पर कोई व्यक्ति अपना आधिपत्य जमाना चाहता है तो वह गलती करता है। कोई भी वस्तु किसी व्यक्तिविशेष की हो ही नहीं सकती। किसी भी वस्तु का प्रवाह किसी भी व्यक्ति के पास आए, तो उस व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वास्तविक आवश्यकतानुसार उसका उपयोग लेकर आगे बढ़ाए, न कि अपने संकुचित दायरे में उसे अवरुद्ध करे। अगर वह ऐसा नहीं करता है तो वह हिंसकवृत्ति का भागी बनता है, जो कि सृष्टि के विपरीत कार्य है।

दिनांक 8-7-51

हार-जीत की दृष्टि से किया हुआ विचार-विमर्श कभी भी निर्दोष नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें बुद्धि स्वच्छ एवं निष्पक्ष नहीं रह सकती।

जिस विचार से हिंसक वृत्ति की प्रधानता का उद्गम होने लगता है, वह विचार इन्सानियत के विपरीत है।

दिनांक 12-7-51

विभिन्न विचारधाराओं का समन्वयक समाज ही हितकर एवं प्रगतिशील हो सकता है।

दिनांक 13-7-51

कर्तव्य कर्म का भान न होने से प्राणी अनेक चिन्ताओं को दिल में स्थान दे देता है। इससे वह स्वयं दु:खी होता है। उन्हीं चिन्ताओं का प्रतिबिम्ब जब उसे चारों ओर से दिखाई देता है, तो वह सहसा भय-भ्रान्त होकर अनुभव करता है कि मैं महान् दु:खी हूँ और अमुक जन मेरे दुश्मन हैं, ये मुझे चारों ओर से कष्ट पहुँचा रहे हैं, मगर यह असंस्कारित मन का नमूना है, अतएव संस्कारित मन बनाना साधक का प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए।

दिनांक 14-7-51

मैं किसी के साथ द्वैतभाव क्यों रखूं ? क्यों न प्रत्येक प्राणी को स्व-स्वरूप की तरह देखूं। यह बात उपदेश रूप न होकर अनुभूति रूप हो।

विकास क्रमश: होना चाहिए, व्युत्क्रम से नहीं। हाँ, व्युत्क्रम से भी विकास हो सकता है, पर वह राजमार्ग नहीं माना जा सकता है।

दिनांक 15-7-51

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक शक्ति का व्यय करने के पहले यह ध्यान कर लेना चाहिए कि मैं जिस शक्ति को खर्च करना चाहता हूँ, उसका क्या उपयोग होगा ? सार्थक होगा या निरर्थक ? मेरे व समाज के लिए हितकर होगा या अहितकर ? और वह व्यय मेरे लिए शक्य है या अशक्य ।

दिनांक 16-7-51

प्रत्येक मनुष्य का सामान्य लक्ष्य समाज का सर्वाङ्गीण विकास होना चाहिए। उसकी पृष्ठभूमि के लिए सर्वप्रथम प्रत्येक मनुष्य को आर्थिक एवं शैक्षणिक समानता की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति के लिए प्रत्येक प्राणी को तन-मन-धन से प्रयत्न करना चाहिए।

दिनांक 17-7-51

मन में जो वास्तविक प्रेम की धारा है, वह सूर्य की किरणों से भी वढ़कर तेजस्विनी है। उसी का विस्तार जीवन की विविध विचार-धाराएं हैं। निरन्तर विकास पाकर वह धारा आकाश को भी मात कर, व्याप्त होनी है, यदि उसको संकुचित दायरे में न वांधा जाय। इसको कोई नष्ट नहीं कर सकता, जला नहीं सकता, भिगो नहीं सकता, मगर अज्ञान का पर्दा डालकर अवरुद्ध कर सकता है। एक कमरे में भी वन्द कर सकता है और दस-वीस कमरों में भी फैला सकता है। पर जहां यह ठीक से पहुँच जाती है और अपने परिवार को फैला देती है, वहां से इसको फिर हटाना अशक्य नहीं तो दुःशक्य अवश्य हो जाता है।

दिनांक 18-7-51

मन का अन्तर्जगत् के साथ सम्वन्ध है। जिस मन में जितना अधिक आकर्षण होगा, उतना ही वह अन्तर्जगत् को अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा। आकर्षण शक्ति किसी-किसी में नैसर्गिक होती है। पर उसको अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वह रह भी सकती है और चली भी जाती है। अतः ज्ञानपूर्वक प्राप्त की गई आकर्षणशक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए, क्यों-कि वह स्वाधीन होती है।

दिनांक 20-7-51

जब यश एवं कीर्ति का आवरण इन्सान के मन-मस्तिष्क पर छा जाता है, तब उसको अपने कर्त्तव्य का एवं लक्ष्य का भान नहीं रहता। उसको अक्षरीज्ञान में प्रवीण होने पर भी ज्ञानियों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता। वह समाज एवं मानवता के नाम पर किये जाने वाले कार्य में भी अपनी उसी वासना का पोषण करेगा।

दिनांक 20-7-51

इन्सान के विचारों का प्रभाव प्रकृति पर पड़ता है और प्रकृति का प्रभाव इन्सान के ऊपर। मगर इन्सान सही रास्ते पर चले, तो प्रकृति को भी बदल सकता है। प्रशस्त वायुमण्डल तैयार कर इच्छानुसार प्रगति की जा सकती है।

दिनांक 21-7-51

प्रत्येक कार्य के लिए कुछ-न-कुछ निमित्त अवश्य होता है। निमित्त के बिना प्रायः प्रवृत्ति होनी असम्भव है। निमित्त को प्राणी जान सके या न जान सके, यह बात दूसरी है। जिस वातावरण के वायुमण्डल में प्राणी रहता है, उसी अनुसार बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रवृत्ति होती है—यह सामान्य नियम है। विशिष्ट आत्मा विशेष निमित्त पाकर सारे वायुमण्डल में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकता है। प्रत्येक पदार्थ के गुण व अवगुण प्रस्फुटित होकर वायुमण्डल में मिलते रहते हैं। जिस वस्तु में जिस गुण को आकर्षित करने की शक्ति होती है, वह वस्तु उसी को खींच कर अपने में मिला लेती है।

दिनांक 22-7-51

आदेशानुगामी जनता को तत्त्वनिर्णय की बात कही गई तो गलती होगी, क्योंकि तत्त्वनिर्णायक ही तत्त्व का निर्णय कर सकता है। स्वाभीष्ट तत्त्व के प्रचार में ही अधिक समय का व्यय होना चाहिए। इधर-उधर की वातों में समय का अपव्यय करना उचित नहीं।

दिनांक 23-7-51

मैं विद्वान् हूँ, कलाकार हूँ, लोग मुझे श्रेष्ठ मानते हैं, मेरे प्रति अधिक मनुष्यों की श्रद्धा है, मैं सबसे बड़ा नेता हूँ, मैं सुन्दर ढंग से व्याख्यान दे सकता हूँ, देश या संसार में मेरी काफी इज्जत है, मेरे इशारे पर लाखों व्यक्ति जीवन की बलि दे सकते हैं, आदि बातों में से किसी भी बात का चक्कर जब तक मनुष्य के दिमाग पर छाया रहता है, तब तक वह किसी प्रकार का विशेष विकास नहीं कर सकता। उसका विकास रुक जाता है। वह बाह्य एवं आन्तरिक सम्बन्धों को भी ठीक से नहीं पहचान पाता।

दिनांक **24-7-51**

जो बात बीत चुकी, उसका स्मरण कर ग्लानि लाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु नवीन उत्साह पैदा करने की जरूरत है। वास्तविक लक्ष्य में तन्मय होकर कर्त्तव्य कार्य में लग जाने पर कोई कार्य असाध्य नहीं। व्यतीत अवस्था से भी अच्छी अवस्था प्राप्त की जा सकती है। प्रकृति के अन्दर सभी शक्तियां विद्यमान हैं। इसका स्वभाव ही बुराई को दूर कर अच्छाई की ओर ले जाना है। यह किसी प्रकार की बुराई को सहन नहीं करती है, उसे साफ करने की कोशिश करती है।

दिनांक **25-7-51**

कलापूर्ण कृति अधिक आकर्षक होती है। उसमें भी प्राकृतिक दृश्यों की कृतियां अपूर्व होती हैं। सारा विश्व कलापूर्ण कृतियों से परिपूर्ण है। इन्सान भी उन कला-कृतियों का एक प्राकृतिक अपूर्व प्रतीक है। इसको विश्व में जो स्थान प्राप्त है, वह सब से श्रेष्ठ है। इसको समझकर इसका उपयोग करना इन्सान के हाथ की बात है।

दिनांक **26-7-51**

मन के प्रतिकूल कार्य को देखकर उत्तेजित होना असंस्कारी दिमाग की सूचना देना है। विचार, उच्चार और आचार इनमें एकरूपता इंसान की पृष्ठभूमिका है, किन्तु विरूपता वास्तविक स्थिति से प्रतिकूल है। इसकी अनुकूल अवस्था लाने में प्रयास आवश्यक है, मगर दिमाग में उत्तेजना न हो।

दिनांक 27-7-51

संकुचित विचारधारा द्वेषता की प्रतीक है। बड़े-बड़े नेता मुझसे मिलें, मेरे भक्त बन कर मेरा यशोगान करें, ऐसी भावना द्वेषयुक्त विकारी मन की पहचान है।

मुझे अगर इन्सान बनना है तो मैं प्राणी मात्र पर योग्यतानुसार समभाव रखूं और प्राणी के अतिरिक्त पदार्थ को तत्त्व रूप से देखूं। उनका विवेचन शुद्ध एवं निष्पक्ष बुद्धि से करूं। निर्विकार अन्तःकरण की साक्षी के बिना किसी को आदेश रूप वचन न कहूं। अवज्ञा एवं तिरस्कार की भावना किसी के प्रति न रखूं।

दिनांक 28-7-51

जीवन में अनेक परिस्थितियां आती हैं और चली जाती हैं। उनको प्रसन्नता पूर्वक जो समझ लेता है वह अपनी जीवन नौका को आगे बढ़ा सकता है और जो नहीं समझ पाता है वह जिस किसी विचारधारा में बहकर जीवन को अपनी मूल स्थिति से बहुत दूर फेंक देता है।

दिनांक 29-7-51

वायुमण्डल के अन्दर भी संघर्षमय वातावरण विद्यमान रहता है। जिस स्थान में जिस विचारधारा का प्रावल्य होगा, उसी की विजय होगी। अपनी बात मनवाने के पहले वायुमण्डल को शुद्ध करो, फिर जिन विचारों को तुम श्रेष्ठ समझते हो, यदि वे वास्तविक रूप से जनहितकारी एवं कल्याणप्रद हैं, तो निष्काम भाव से दुनिया के सामने रख दो। वे विचार शीघ्रातिशीघ्र कार्य रूप में परिणत हो जायेंगे।

तुम प्रसन्नचित्त रहो, चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु स्वयं अपने जीवन में जिन-जिन बातों की त्रुटियां या कमजोरियां अनुभव करो, उनको शीघ्रातिशीघ्र दृढ़ संकल्प के साथ दूर कर दो। फिर तुमको कभी किसी विफलता के दर्शन नहीं होंगे।

दिनांक 30-7-51

प्रकृति का रहस्य अभी अज्ञात है। इसको मालूम करने के लिए अत्यधिक तपश्चर्या की आवश्यकता है। तपश्चर्या केवल शारीरिक ही नहीं, किन्तु मन और बुद्धि को विशुद्ध करने के लिए निरन्तर प्रयास को ही वास्तविक तपश्चर्या कहा जा सकता है। इस तपश्चर्या से जो शक्ति प्राप्त होती है, वही शक्ति वास्तविक रहस्य को ज्ञात करा सकती है।

दिनांक 31-7-51

इन्सान व्यर्थ की चिन्ता से परेशान होता है। सार्थक चिन्ता से हैरानी नहीं आती, किन्तु उत्साह बढ़ता है। कार्य करने में तत्परता आती है और जीवन के अमूल्य तत्त्वों का व्यर्थ अपव्यय नहीं होता। व्यर्थता का व अव्यर्थता का ज्ञान भी चेहरे पर प्रकटित भावों से हो सकता है। सतत ध्यान रखने पर, वह ध्यान भी मस्तिष्क पर हावी हो, तो उस पर भी मन का अंकुश होना चाहिए। तभी सफलता मिल सकती है।

दिनांक 1-8-51

सच्चे महात्मा कभी अपने आपको प्रकट नहीं करते, मान-प्रतिष्ठा एवं पूजा के लिए कभी अपनी जिह्वा को नहीं हिलाते और न मन में ही इस प्रकार का संकल्प आने देते हैं। उनका ध्यान सदा वास्तविक कर्त्तव्य कर्म में रहता है। वे मान और अपमान को, मित्र और शत्रु को, सुख और दुःख को, प्रिय एवं अप्रिय को अपने निर्विकार मन-मस्तिष्क के परीक्षक के रूप में देखते हैं। उनके प्रति अनुराग या द्वेष कभी नहीं लाते, वे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं।

दिनांक 2-8-51

मैं यदि किसी से चालाकी से बात करता हूँ और मन में यह समझता हूँ कि मैं बड़ा चतुर हूँ। उसको कैसा चकमा दिया कि वह समझ ही नहीं सका; यह मेरा भ्रम है, आत्मवञ्चना है और मूर्खता का नमूना है। वह ऊपर से किसी कारणवश न समझ पाया हो किन्तु उसकी अन्तर् आत्मा पर मेरे कुटिल भावों की छाप अवश्य पड़ेगी, वह समय पाकर प्रतिक्रिया के रूप में सामने आयेगी और उससे वायुमण्डल दूषित होगा, जोकि मेरे और विश्व के लिए अहित-कर है। अतएव जीवन में प्रत्येक बात का ध्यान रखना चाहिए और ऐसा ही कार्य करना चाहिए जिससे किसी का अहित न हो।

दिनांक 3 8-51

जिस समय विचारों का तूफान आता है, उस समय सहसा किसी भी कार्य को करना अनर्थकारी होता है। उस समय ज्ञान की मात्रा विलुप्त हो जाती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य से विमूढ़ होकर कार्य किया जाता है। अतएव वह अज्ञानमूलक है और अज्ञानमूलक कार्य कभी हितकर नहीं कहा जा सकता।

दिनांक 4-8-51

जो परमात्मा के भक्त का बाना पहनकर अपने भक्त तैयार करने के लिए किसी की प्रशंसा करता है, किसी के कुटुम्ब-कुल-परम्परा का वर्णन करता है, किसी के इष्टदेव की स्तुति करता है, माता के अनुकूल विचार पुत्र के विषय में कहता है तो कभी पुत्र को एकान्त में पाकर उसके अनुकूल विचार प्रकट करता है, कभी पति का गुण-गान पत्नी के सामने तो कभी पत्नी का पति के सामने एवं पिता-पुत्र, सम्प्रदाय-सिद्धान्त आदि के विषय में उनके मानने वाले के अनुकूल विचार कहकर अपनी पूजा कराना चाहता है, वह परमात्मा के नाम पर वेश्यावृत्ति करता है। हाँ, इसका मतलब यह नहीं कि किसी के वास्तविक गुणों का वर्णन नहीं किया जाय। प्रसंग आने पर वस्तु-स्वरूप का वर्णन करना अवश्य चाहिये, किन्तु निष्काम-भाव से।

दिनांक 5-8 51

मुझे शान्त दिमाग से यह सोचना है कि अन्य प्राणियों की तरह मैं भी एक प्राणी हूँ, अन्य प्राणियों ने क्या विकास किया और मैंने क्या विकास किया ? अगर मेरी आसक्ति धन, धान्य, अक्षरीज्ञान प्राप्त करने आदि बाह्य सीमित दायरे में ही है, तो मुझे समझ लेना चाहिए कि मैंने जड़ता का विकास किया, जीवन-रोशनी के मूल्य पर अंधकार प्राप्त किया, जीवन के दिव्य तेज को मिट्टी के अन्दर मिला दिया, उत्कृष्ट विकास साधन से नीचा चला गया। इस समय भी अगर सम्भल गया, तो आगे बढ़ सकता हूँ। वरना निकृष्ट प्राणियों से भी पीछे रह जाऊँगा।

दिनांक 6-8-51

वहते पानी की तरह अभ्यस्त विचारधाराओं को रोककर अनभ्यस्त नवीन कार्य की ओर ले जाना प्रगति का चिह्न है। अभ्यस्त मार्ग से तो अन्धा, वच्चा, मूर्ख और सामान्यबुद्धि के अन्य प्राणी भी यन्त्रवत् चलते ही हैं, इसमें कोई विशेषता नहीं। अभ्यस्त मार्ग पर आपत्तियां नहीं के समान आती हैं; मगर अनभ्यस्त मार्ग पर चलने पर अनेक आपत्तियां आती हैं और वे अस्वाभाविक-सी भी मालूम होती हैं। किन्तु जो विवेकपूर्वक उनका सामना करता हुआ आगे वढ़ता रहता है, वह अवश्य सफल हो सकता है। वही वस्तुतः प्रगति कही जा सकती है।

दिनांक 8-8-51

हे आत्मन्! तू यह सोचता है कि मैं अमुक स्थान पर जाकर मेरे जीवन में उत्तम अवस्था प्राप्त करूं, क्योंकि वह स्थान पवित्र है; पर यह सोचना एकाङ्गीपन है। कारण कि हर स्थान पवित्र और अपवित्र दोनों अवस्थाओं से परिपूर्ण है। कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ केवल पवित्रता या अपवित्रता हो, हाँ न्यूनाधिकता हो सकती है, किन्तु सच्ची पवित्रता का प्रेमी हर स्थान में पवित्रता प्राप्त कर सकता है। चाहिए दृढ़ संकल्प।

दिनांक 9-8-51

प्रिय और अप्रिय का व्यवहार काल्पनिक है। वस्तुतः प्रिय और अप्रिय नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। एक ही वस्तु एक को प्रिय और दूसरे को अप्रिय, किसी तीसरे को न प्रिय और अप्रिय हो सकती है। एक ही वस्तु विभिन्न भावनाओं का निमित्त वनकर विभिन्न भावनाओं के अनुसार उपस्थित होती है। उसमें केवल प्रियत्व मान वैठना वस्तु-स्वरूप के ज्ञान से दूर जाना है। एक ही व्यक्ति जिस वस्तु के साथ प्रियत्व की कल्पना कर कुछ समय के लिए सद्व्यवहार करता है, वही व्यक्ति समय परिवर्तन के वाद उसी वस्तु के साथ अप्रियत्व की कल्पना से दुर्व्यवहार करने लग जाता है। अतः प्रियत्व और अप्रियत्व के काल्पनिक स्वरूप को समझना चाहिए।

दिनांक 10-8-51

आजकल अधिकांश साहित्यकारों की वही मनोवृत्ति लक्ष्यरूप में पाई जाती है, जो कि एक अत्यन्त अविकसित पशुयोनि में पाई जाती है। उसी मनोवृत्ति के साहित्य को कोमल मस्तिष्क विद्यार्थी पढ़ता है तो उसी के अनुसार वह अपने व अन्य के जीवन को ढालने की कोशिश करता है और उसी में कामयावी पाकर अपने को सफल समझता है। उससे भिन्न सोचने की दिमागी ताकत लुप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में उसका भविष्य अन्धकारमय वन जाता है।

दिनांक 11-8-51

जैसे लोगों की दी हुई सत्कार संज्ञा के लिए मेरा दिल लालायित रहता है, उसी तरह लोगों के द्वारा दी गई तिरस्कार संज्ञा से भी रहना चाहिए। एक से प्रसन्न और दूसरी से अप्रसन्न न होना चाहिए। जब तक द्वैतभाव की कल्पना आचरण रूप में विद्यमान है, तब तक स्वयं को इन्सानियत से दूर समझना चाहिए। अगर जीवन सफल वनाना है, तो सर्वप्रथम इन्सानियत प्राप्त करो।

दिनांक 12-8-51

जो केवल एक ही अवस्था में रहता है, वह वास्तविक अनुभव के विना प्रगति नहीं कर सकता। जव तक विविध विपरीत परिस्थितियों का सामना होने पर उनमें क्षीर-नीर की तरह सावधानी पूर्वक विश्लेषण कर गुणावगुण का निर्णय नहीं किया जाता, तब तक वही अवस्था रहती है। यह दृढ़ विश्वास भी नहीं हो सकता और न आगे बढ़ने की तीव्र शक्ति ही पैदा की जा सकती है। अतएव प्रगतिशील पुरुष को विपरीत परिस्थितियों का भी धैर्यपूर्वक प्रगति के साधन रूप से ही सत्कार करना चाहिए। हाँ, यह कार्य जनसाधारण का नहीं।

दिनांक 14-8-51

आज के दिन भारतीयों के हाथ में राजसत्ता आई। अतएव आज का दिन स्वतन्त्रता-दिवस के रूप में मनाया जा रहा है। यह स्वतन्त्रता नाममात्र के लिए कही जा सकती है; वास्तविक नहीं। क्योंकि, वास्तविक स्वतन्त्रता की ओर अभी तक अधिकांश भारतीयों का लक्ष्य ही पूरा नहीं बना है और जब तक लक्ष्य पूरा नहीं बनता, तब तक उसके लिए उत्सव मनाकर वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है—यह भी एक कथनमात्र है। क्योंकि बिना लक्ष्य का प्रयास पागलों का होता है, इन्सानों का नहीं। इन्सानों का लक्ष्यपूर्वक प्रयास होता है, उसके लक्ष्य में स्वार्थ की तिलाञ्जलि होती है। गुटबन्दी या संकुचित दायरे का नामो-निशान तक नहीं रहता। विचार-स्वातन्त्र्य और एकत्व एकाङ्गी भाव से रहते हैं। विद्वेष, ईर्ष्या व कलह का अत्यन्ताभाव रहता है। सभी के समान विकास की भावना का प्राबल्य रहता है। गुलामी व हीनता के भावों के बीज तक का वपन नहीं होता और जिसमें चरम विकास का अन्तिम लक्ष्य भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता है, वही वास्तविक लक्ष्य कहा जा सकता है और उसी के लिए प्रयास, मानवीय जीवन का प्रयास कहा जा सकता है।

दिनांक 15-8-51

स्वयं के आचरण के अनुसार किसी वाक्य को तोड़-मरोड़ कर उसका अर्थ करना और उसके वास्तविक अर्थ को छिपा देना कमजोर मानस का काम है। ऐसी क्रिया भयभीत दिल का नमूना है। ऐसे दिल वाले विशेष कार्य करने में भी असमर्थ रहते हैं। अतएव दिल को मजबूत बनाना चाहिए और निर्भयता पूर्वक व्याख्या करने में तत्पर रहना चाहिए।

दिनांक 16-8-51

जंगल के एक कोने में सुगन्धित पुष्प खिलकर विकसित होता है। वह बिना किसी की प्रेरणा के अपने-आपको सुगन्धित गुणों से परिपूर्ण कर लेता है। उसकी सुगन्ध समस्त विश्व के लिए होती है, न कि व्यक्तिविशेष के लिए। वह यह इच्छा नहीं करता है कि मेरी सुगन्ध विश्व के प्राणी आकर लें ताकि मैं उनके द्वारा विश्व-प्रसिद्ध होऊँ और न वह यह चिन्ता ही करता है कि अगर विश्व के प्राणी न आये और मेरी सुवास न लें तो मेरा इस संसार में पैदा होकर विकसित होना व्यर्थ चला जायगा तथा मैं संसार का कोई उपकार न कर सकूंगा। जिन सुगन्धित गुणों का विकास हुआ है, वे कभी व्यर्थ जाने के नहीं। संसार के प्राणी उन गुणों को पहचान सकें या नहीं, यह बात दूसरी है। किन्तु वे गुण समान रूप से संसार के कोने-कोने में फैलकर विश्व का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपकार ही करते हैं, वे अंशमात्र भी व्यर्थ नहीं जाते।

दिनांक 17-8-51

मनुष्य कुछ गुणाभ्यास प्राप्त कर सोचने लगता है कि मैं कितना गुणवान हूँ। मेरी इस संसार में कोई कीमत नहीं करता, मेरा जीवन ऐसे ही व्यर्थ चला जायगा, आदि अनेक कल्पनाओं से दुःखी होकर अपने आपको प्रसिद्ध करने के लिए अनेक तरीके अपनाता है। मगर ये सब उसके प्रच्छन्न विकार यानि दोष हैं। ऐसा व्यक्ति अपने या अन्य के लिए विशेष हितकर नहीं हो सकता। प्रथम तो ऐसे व्यक्तियों में वास्तविक गुण आने असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हैं और यदि किसी में आये भी तो वे जहर-मिश्रित दूध के समान होने से हानिकारक ही सिद्ध होते हैं।

दिनांक 18-8-51

जो इन्सान का शरीर धारण कर अपनी इच्छापूर्ति के लिए भय या घृणा पैदा करता है, वह अन्तर्जगत में हिंसा का बीज वपन करता है। यदि कोई सामान्य रूप से यह मान ले कि मैं भय और घृणा से आत्मोन्नति करता हूँ या करवाता हूँ तो वह गलत रास्ते पर है। हाँ कभी-कभी इनका आश्रय लिया जाता है; मगर किस वक्त, किस अवस्था में, कौनसा व्यक्ति, कितने अंश में और किस रूप से भय और घृणा का उपयोग करे, इन बातों का पूर्ण ज्ञान रखने वाला विशिष्ट व्यक्ति ही इनका प्रयोग करने में समर्थ हो सकता है, हर एक नहीं।

दिनांक 19-8-51

जनसाधारण का आज जो लक्ष्य बना हुआ है, वही वना रहेगा, यह कोई निश्चित नहीं। एक समय ऐसा आयेगा जव उसका आज से बिलकुल विपरीत लक्ष्य होगा।

इस विश्व की विचित्रता का सही पता लगाना सुसाध्य नहीं। कुछ मानव इसकी गवेषणा में लगे हुए हैं। उन्होंने कुछ अंश में सफलता भी पाई है, किन्तु उसका अनुकरण दुष्कर है।

दिनांक 20-8-51

जिस सद्‌विचारधारा का बीज वपन करते हो, उसको सावधानी के साथ विकसित एवं प्रफुल्लित करो। उसके अनुकूल वायुमण्डल से उसका सिंचन करो। उसकी देख-रेख तब तक पूर्ण शक्ति के साथ करो, जब तक कि वह परिपक्व एवं मजबूत न बन जाय, अन्यथा उसकी विपरीत विचार-धाराएँ उसको चूम लेगीं।

दिनांक 21-8-51

कुछ व्यक्ति यह कहा करते हैं कि हमने अमुक कार्य के लिए बहुत प्रयत्न किये, मगर उसमें सफलता नहीं मिली। क्या करें ? हमारे भाग्य अच्छे नहीं हैं और जब तक भाग्य अनुकूल नहीं होता, तब तक प्रयत्न करना व्यर्थ है। देखिये न, पहले लोग मेरी कितनी इज्जत करते थे और अब मुझे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वही मैं हूँ, जो पहले था और वही मेरा कार्य है, जो पहले था। फिर भी यह अवस्था जो हुई, यह सब भाग्य का चमत्कार है। पर ये सब बातें अन्तर का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं होने से कही जाती हैं। वस्तुतः देखा जाय तो विफलता का कारण अपनी वृत्तियों के प्रति सतत जागरूक नहीं रहना है। इन्सान कुछ भी सत्कार्य प्रारम्भ करता है, उस समय उसकी उस कार्य में तल्लीनता रहती है और उसी समय प्रारम्भिक सफलता की रौनक उसके सामने आती है। उस रौनक को देखकर वह अपने आप पर काबू नहीं रख सकता। वह यह अनुभव करने लगता है कि मैं ही इस संसार में सब कुछ हूँ, मेरे सामने कौन व्यक्ति ठहर सकता है। मैं सभी दृष्टियों से परिपूर्ण हो चुका हूँ, आदि। ये ही विचार उसके विफलता के कारण बनते हैं और उसी समय से वह ह्रास की ओर चल पड़ता है।

दिनांक 22-8-51

अमुक समाज या अमुक व्यक्ति मेरा सत्कार-सन्मान कैसे करे, उनको मेरे अनुकूल कैसे बनाऊँ, जब तक ये मेरे अनुकूल नहीं बनेंगे, तब तक मेरी प्रतिष्ठा नहीं होगी, ऐसा विचार कर जो अपनी आत्मा के माप-दण्ड को गिराकर आचरण करता है, वह व्यक्ति अपने आपको विश्व के निम्नतम प्राणियों से भी नीचे स्तर पर ले जाता है। उनका उपदेश व आचरण कृत्रिम होता है।

कृत्रिमता स्वाभाविकता से विपरीत है और जब तक स्वाभाविकता नहीं आती, तब तक कोई भी व्यक्ति वास्तविक विकास की दिशा में स्वयं प्रगति न कर सकता है और न अन्य को करवा सकता है।

दिनांक 23-8-51

प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति नवीन अनुभव की ओर रहती है। प्रत्येक प्राणी हर समय इस तलाश में रहता है कि अमुक वस्तु में क्या विशेषता है, अमुक में क्या कमी है, अच्छापन किसमें अधिक है। जब स्वशक्ति अनुसार यह मालूम हो जाता है कि अमुक वस्तु अच्छी है तो फिर वह उसे प्राप्त करने की कोशिश करने लगता है और जब तक उसको प्राप्त नहीं कर लेता अथवा उसके दोषों को नहीं जान लेता तब तक उसको सन्तोष नहीं होता, बराबर उसी की चिन्ता में लगा रहता है। यह बात दूसरी है कि उसका यह ज्ञान एवं प्रवृत्ति वास्तविकता से प्रतिकूल है या अनुकूल ?

दिनांक 24-8-51

जो मनुष्य संघर्ष से भय खाता है और उससे अलग रहना चाहता है, वह अपनी कायरता को पुष्ट करता है। संघर्ष कोई बुरी वस्तु नहीं है, वह जीवन-विकास का मुख्य साधन है। जिस जीवन में संघर्ष नहीं, उसे जीवन नहीं कहा जा सकता। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों संघर्षों के बीच निर्लेप प्रसन्नता पूर्वक खेलने वाला व्यक्ति ही विकास की ओर बढ़ सकता है। हाँ, एकाङ्गी संघर्ष से भी कुछ विकास हो सकता है, पर वह स्वेच्छापूर्वक नहीं कहा जा सकता।

दिनांक 25-8-51

मानवता-विरुद्ध किसी वर्ग या जाति का निर्माण करना और उसी को अपने जीवन का ध्येय बना लेना विकारी मन का परिचय है। अशान्ति, अराजकता एवं साम्प्रदायिकता तथा व्यक्तिवाद का बीजारोपण इसी से पल्लवित होता है। ऐसी विचार-धाराएँ ही इन्सान को इन्सानियत से दूर हटाती हैं।

दिनांक 26-8-51

सामान्य मनुष्य को, अबोध बच्चे को एवं साधक को उत्तम वातावरण में रहने की और प्रत्येक समय सुसंस्कारित जीवन को दृष्टि-पथ पर रखने की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसमें जरा-सी भी असावधानी नीचे स्तर पर ले जाने में कामयाब हो सकती है, क्योंकि विश्व में पिष्टपेषण एवं विकृत वायुमण्डल का प्रावल्य रहता है।

दिनांक 27-8-51

जो इन्सान अपनी शक्ति के अनुसार निष्कपट भाव से अपने समय का सदुपयोग करता रहता है, वह प्रगति के पथ पर बढ़ रहा है, ऐसा कहा जा सकता है। मगर जो व्यक्ति सत्कार के बढ़िया-से-बढ़िया बाह्य साधनों को तो अधिक अपना लेता है, पर आन्तरिक साधन को नहीं अपनाकर समय और जीवन को व्यर्थ नष्ट करता है, वह स्वयं और अन्य के लिए हानिकारक है। वह अपने जीवन के स्वाभाविक नियन्त्रण को भी खो बैठता है।

इन्सान तभी खतरनाक होता है, जब वह स्वमस्तिष्क के नियंत्रण से बाहर हो जाता है।

दिनांक 28-8-51

आजकल अधिकांश मनुष्यों का केन्द्र-विन्दु जड़ बना हुआ है। वह बाह्य भौतिक रूप को ही प्राप्त करने में अपना श्रेय समझते हैं। आज के इन्सान में वास्तविक प्रेम का संचार, केन्द्र-विन्दु के परिवर्तन से ही हो सकता है, मगर वह शिक्षित एवं प्रतिष्ठित कहे जाने वालों के अधीन है।

दिनांक 29-8-51

किसी से प्रशंसा की अभिलाषा करना अथवा हृदय में किसी व्यक्ति का पूज्य स्थान नहीं होने पर भी इस भाव से उसकी प्रशंसा करना कि अगर मैं इस की तारीफ नहीं करूँगा तो इसके भक्त मेरा सत्कार या मेरी प्रशंसा नहीं करेंगे, अथवा लोग कहेंगे कि इनमें द्वेषभाव है, अतः एक-दूसरे की प्रशंसा नहीं करते हैं, आदि विचारों से भय खाकर जो व्यक्ति ऊपर से प्रशंसा करता है, वह व्यक्ति अपनी प्रामाणिकता से गिरता है, अप्रामाणिकता का दूषित वायुमण्डल तैयार कर अन्य को भी अप्रामाणिक बनाता है। ऐसे मनुष्य की कृतियाँ हानिप्रद होती हैं।

दिनांक 30-8-51

जो वस्तुस्वरूप का प्रायः बौद्धिक ज्ञान होता है, वह जीवन का साधक भी हो सकता है और बाधक भी। वस्तुस्वरूप का ज्ञान क्या है और क्यों है, इस बात का जब तक अनुभूतिमूलक ज्ञान नहीं होता, तब तक वह बाधक रूप में रहता है। अनुभूति होने पर वह साधक रूप हो जाता है।

दिनांक 31-8-51

आदेश और उपदेश दोनों जीवन-निर्माण में सहायक हैं। उपदेश में तात्त्विक वर्णन की प्रधानता रहती है और आदेश में आचरण अंश की मुख्यता रहती है। आदेश का अन्य पर असर तभी होता है जबकि आदेशकर्त्ता के जीवन में वह यथाशक्ति उतर पाया हो। जीवन में उतरे बिना आदेश का अन्य पर विकृत असर होता है, जो कि आगे चलकर दम्भ के रूप में सामने आता है।

दिनांक 1-9-51

इन्सान को सदा अपनी अवस्था को देखते रहना चाहिए, किस समय क्या अवस्था है ? इस समय मैं क्या कर रहा हूँ, मेरी विचार-धाराएँ किस ओर बह रही हैं, उसमें किस पदार्थ के प्रति आसक्ति है और किस के प्रति विरक्ति है, प्रयत्न क्या चल रहा है, शारीरिक सामर्थ्य कैसी है ? आदि अवस्थाओं में स्वकर्त्तव्य का पता लगाकर उसके ऊपर दृढ़ता के साथ चलते रहना ही इन्सान की विशेषता है ।

दिनांक 2-9-51

चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं होता, बल्कि हानि होती है । अगर कुछ करना है तो प्रसन्नतापूर्वक उसमें लग जाना चाहिये । समय या मुहूर्त की अनावश्यक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये । कार्यारम्भ का वही समय या मुहूर्त अति उत्तम है, जिस समय पूर्ण उत्साह हो । बिना उत्साह अच्छे मुहूर्त में आरम्भ किया हुआ कार्य भी सफल नहीं हो पाता ।

दिनांक 3-9-51

इन्सान की गलती को जानते हुए भी उसके सामने स्पष्ट बात रखने में संकोच करना, भय खाना और यह सोचना कि स्पष्ट कहने से यह नाराज हो जायगा अथवा यह मेरी जो इज्जत कर रहा है, उसमें फर्क पड़ जायगा या मेरी छिपी हुई गलती प्रकट कर देगा, आदि बातों को लेकर जिस व्यक्ति की गलती हो, उसके सामने उस का समाधान न कर, दूसरों के सामने कहकर भ्रम फैलाना, कमजोर दिल के व्यक्तियों का कार्य है । वे बिचारे स्वयं को ही अधिक हानि पहुँचाते हैं । ऐसे व्यक्तियों पर दया करना सामर्थ्य-सम्पन्न इन्सानों का कर्त्तव्य है ।

दिनांक 4-9-51

बिना सोचे-समझे कार्य करना पाशविक वृत्ति का परिचायक है। साम्प्रदायिकता के नशे में निरपराधी प्राणी के प्राणों का हरण करना अत्यन्त निकृष्ट कार्य है । यह इन्सान के लिए भारी कालिमा का धब्बा है। इस धब्बे से सदा दूर रहना प्रत्येक इन्सान का प्रथम कर्त्तव्य है।

दिनांक 5-9-51

जो कार्य सोच-समझकर उत्साह से किया जाता है, वह दुष्कर होने पर भी आसान मालूम होता है और सहज ही किया जा सकता है। मगर जो कार्य बिना सोचे-समझे उत्साह रहित रूढ़िपरम्परा से किया जाता है, वह आसान होने पर भी दुष्कर मालूम होता है और सहज में नहीं किया जा सकता।

दिनांक 6-9-51

जितनी भी साम्प्रदायिकता से अनुप्राणित संस्थाएँ हैं, वे प्रायः साम्प्रदायिकता के अलावा निर्लक्ष्य होती हैं। निश्चित लक्ष्य नहीं होने से वे संस्थाएँ प्रतिगामी रहती हैं। प्रगतिशील संस्थाएँ निश्चित लक्ष्य को लेकर चलती हैं । अतएव वे सफल संस्थाएँ कही जा सकती हैं।

दिनांक 7-9-51

जो पवित्र दिल से सदा सबका हित चाहता है, कभी भी किसी के प्रति दुर्भाव नहीं आने देता और अगर कभी किसी के प्रति कुछ दुर्भाव आ भी गया तो तुरन्त उसको दूर करने की शक्ति रखता है, उस व्यक्ति के लिए सदा ही क्षमा-याचना का दिन समझना चाहिए। किन्तु जो व्यक्ति अधिकांश रूप से अपने दिल और दिमाग को बुरे विचारों में रखता है और यही सोचा करता है कि मैं कैसे सबसे श्रेष्ठ कहलाऊँ और कैसे दूसरों को नीचा दिखाऊँ ? प्रायः इन्हीं विचारों को कार्यान्वित करने के लिए वाह्य दिखावे के तौर पर नम्र बनता है या क्षमा-याचना का उच्चारण करता है, वह क्षमा-याचना के संवत्सरी पर्व को भी लजाता है एवं कपट-क्रिया की वृद्धि करता है। ऐसे व्यक्ति आत्मशुद्धि से दूर रहते हैं।

दिनांक 8-9-51

जिस जनहितकारिणी संस्था में जो मानव रहता हो, उस व्यक्ति को इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि उस संस्था के मौलिक नियमों का मेरे द्वारा आघात न पहुँचे। मैं उस संस्था के नियमों का यथाशक्य पालन करता हूँ या नहीं, अगर करता हूँ तो किस दृष्टि से ? जिस दृष्टि से उन नियमों का पालन किया जाता है, वह दृष्टि दुनिया के सामने स्पष्ट होनी चाहिए। दुनिया मुझे क्या कहेगी, इस विचार से अपना दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं करना दुनिया को धोखे में डालना है और धोखा देनेवाला व्यक्ति प्रामाणिक नहीं हो सकता।

दिनांक 9-9-51

प्राणी प्राय: सुख और दुःख में स्वतन्त्र है, मगर इसमें कुछ वातावरण भी साधक या बाधक बनता है। इसकी जिम्मेदारी समाज पर ही विशेष रूप से आधारित है। समाज जैसा वातावरण तैयार करता है, उसी के अनुसार प्राणी अपने को सुखी या दुःखी रूप में अनुभव करने लगता है और जब यह अनुभव दृढ़ होकर अधिक समय तक रह जाता है, तब उसमें ऊँच-नीच के भावों की सृष्टि होती है। वही सृष्टि अनेक वर्गों में विभक्त होकर घृणा एवं पाशविक संघर्ष का कारण बनती है। इससे इन्सान, इन्सानियत को भूलकर किसी अन्य मार्ग पर चल पड़ता है। यही वृत्ति परतन्त्रता एवं सुख-दुःख का कारण बनती है।

दिनांक 10-9-51

प्रत्येक इन्सान को नियमित रूप से एवं व्यवस्थित रूप में विश्वहितकारी कुछ-न-कुछ कार्य करने चाहिए। बिना कुछ किये विश्व से सहायता लेना उचित नहीं कहा जा सकता। इन्सान को विश्व के पदार्थों से जो भी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक, आदि शक्ति प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग तभी समझा जा सकता है, जबकि इन्सान उक्त (विश्व) के लिए कुछ करता हो। अगर वह ऐसा कुछ भी नहीं करता है और व्यर्थ ही व्यक्तिगत स्वार्थ में इस शक्ति का व्यय करता है, तब वह विश्व में दूसरों को कष्ट देने वाला एवं कृतघ्न की श्रेणी में आ जाता है।

दिनांक 11-9-51

जो इन्सान हिन्दुस्तान को ही अपना देश मानता है और अन्य देशों को अपना देश नहीं मानता, वह वस्तुस्वरूप को समझने में भूल करता है। अगर अन्य देश-निवासी भी अपने-अपने देश को तो अपना और हिन्दुस्तान आदि अन्य देशों को दूसरे देश समझते हैं तो वे भी गलत रास्ते पर हैं। यह संकुचित दायरे की शिक्षा का परिणाम है। इन्सान अपनी इन्सानियत को नहीं समझकर ही ऐसा कहता है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी का समस्त विश्व अपना देश है। यह इन्सान की प्रवृत्ति का प्रथम कदम होना चाहिए।

दिनांक 12-9-51

अभी भी मानव-मानव में समानता या एक-दूसरे के प्रति हमदर्दी नहीं आ पाई है। कल्पित कुटुम्ब तथा व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यों के दिलों पर जाल की तरह छाये हुए हैं। जब तक यह जाल रहेगा, तब तक मनुष्य के दिल व दिमाग साफ नहीं हो सकते और हमारे बन्धुओं की जो हालत बनी हुई है, उसमें परिवर्तन नहीं हो पायेगा। इस परिवर्तन के बिना सभी विकास-मार्ग कुण्ठित हो रहे हैं, अतएव हम प्रतिज्ञा करें कि सबसे पहले मानव-मात्र को सच्चे बन्धुत्व के रूप में देखें, फिर दूसरे काम को हाथ में लें।

दिनांक 13-9-51

नास्तिक और आस्तिक का विवाद चलता रहता है, मगर ऊपर-ऊपर से। आस्तिक इहलोक, परलोक, आत्मा, पुण्य, पाप आदि की व्यवस्था किया करते हैं, साथ ही इन बातों को पुष्ट करने के लिए भरसक प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु इधर-उधर की युक्तियों-प्रत्युक्तियों से, न कि वस्तुस्वरूप को समझकर। यही हालत नास्तिक की है। वह भी आस्तिक से विपरीत पैंतरा लेकर चलता है, पर वस्तुस्वरूप को नहीं समझ पाता। दोनों अन्धकार में भटकते रहते हैं और इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं।

दिनांक 14-9-51

दिन भर बातें करते रहने से या एक दूसरे से मिलते रहने से सच्चा भ्रातृभाव पैदा हो गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जितना अधिक बाह्य दिखावा है, उतनी ही अधिक भ्रातृभाव से दूरी है। सच्चे भ्रातृभाव में बाह्य दिखावा नहीं के समान रहता है। उसमें हित-कामना पूर्वक कर्त्तव्य की अधिकता रहती है। जहाँ हित-कामना पूर्वक कर्त्तव्य की अधिकता नहीं है, वहाँ निरादम्भ है, भ्रातृ-भाव नहीं।

दिनांक 15-9-51

साधारण जनता के सामने विश्वस्त पुरुष का नाम रखकर व्यक्ति उसको अपनी ओर आकर्षित करता है और उसी से वह अपनी उद्देश्य-पूर्ति में कुछ अंश तक सफल होता है। वह उद्देश्य विश्वस्त पुरुष के आदर्शानुकूल है या प्रतिकूल, यह बात साधारण जनता नहीं समझ पाती। क्योंकि वह नाम के पीछे कुछ नहीं सोचती। मगर सत्या-न्वेषण-निष्ठ पुरुष का यह कर्त्तव्य होता है कि वह साधारण जनता के सामने भी दिल और दिमाग से सही रूप में सामने आये। किसी भी व्यक्ति को उसके द्वारा धोखा न हो, इसका पूरा खयाल रहे। व्यक्तिगत सफलता या विफलता का विचार उसके दायरे से बाहर की चीज है।

दिनांक 16-9-51

जिस वस्तु में जिस स्वभाव की अधिकता होगी, उस वस्तु से वही स्वभाव दूसरे के सामने उपस्थित होगा। अगर दो वस्तुओं का समान स्वभाव है तो दोनों बिना संघर्ष के मिल जायेंगी और उनकी शक्ति दुगुनी हो जायगी। अगर स्वभाव विपरीत है, तो दोनों में संघर्ष होगा या जिसकी शक्ति प्रबल होगी, उस रूप में परिणत हो जायगी या संघर्ष से नवीन शक्ति पैदा होगी और उसका स्वभाव भी दोनों से विलक्षण होगा।

दिनांक 17-9-51

जैसे सत्य या सत्यसम्बन्धी किये जाने वाले कार्य को किसी के भी सामने कहने में हमें संकोच या हिचकिचाहट नहीं होती, वैसे ही विवश होकर या प्रमाद एवं स्वार्थ आदि की दृष्टि से किये जाने वाले कार्यों को भी जनता के सामने निर्भय होकर कहना चाहिये। उसमें संकोच करना या वचन आदि के आवरण में उसे व्यक्त करना इन्सानियत के वरखिलाफ है।

दिनांक 18-9-51

अधिकांश प्राणी सत्य का वास्तविक स्वरूप नहीं समझने के कारण जिस किसी के प्रवाह में वह जाते हैं, परिणाम चाहे कुछ भी हों। ऐसे व्यक्ति कठपुतली या भेड़ियाप्रवाह के समान होते हैं, इसी से आज का विश्व पाशविक प्रवृत्ति का शिकार वना हुआ है। इसकी जिम्मेदारी साधारण जनता पर नहीं, किन्तु ऐसे व्यक्तियों पर है, जो साधन अवस्था में ही सिद्ध वन वैठे हैं। ऐसे व्यक्ति ही साधारण जनता को भ्रम में डालकर धोखा देते हैं।

दिनांक 19-9-51

मनुष्य अपने स्वार्थ को छिपाने की कोशिश करता है, उसकी भावना यह रहती है कि ऊपर से मैं परमार्थ की वातें या परमार्थ के कार्य दिखलाऊँ, ताकि लोग मुझे परमार्थी कहें और मेरा स्वार्थ भी सिद्ध हो जाय। मगर यह उसका भ्रम है। वह उन्हीं लोगों को धोखा दे सकता है, जो विशेषज्ञ नहीं हैं। स्वार्थी व्यक्ति में निर्भयवृत्ति का अभाव-सा रहता है। यह अपनी वृत्ति को छिपाने की कितनो भी कोशिश क्यों न करे, मगर विवेकशील पुरुप के सामने वह छिपी नहीं रह सकती।

दिनांक 20-9-51

मनुष्य की आयु, शरीर व ज्ञान बढ़ने पर भी प्रायः उसमें बच्चे की-सी वृत्ति की प्रबलता रहती है। वह बाह्य रंगरूप में अपने आनन्द की सामग्री खोजता है, पर बाह्य रंग-रूप का और वस्तु-स्वरूप का हृदय-स्पर्शी ज्ञान नहीं होता। इसी से वह बाह्य चकाचौंध में फँस कर अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है।

दिनांक 21-9-51

किसी अपरिचित व्यक्ति ने पूछ लिया कि 'महाराज, आपका स्थान कहाँ है ?' मैंने कहा—'इस समय सब्जी-मण्डी के स्थानक में रह रहा हूँ।' इतनी-सी बात ने मेरे दिल में अनेक कल्पनाएँ पैदा कर दीं। मैं सोचने लगा मैं भी कुछ हूँ, मेरे नहीं बोलने पर भी इस पर प्रभाव पड़ा है, आदि। मगर जब मैंने इन कल्पनाओं को वास्तविक रूप से सोचा तो मुझे मालूम हुआ कि यह मेरा अहं बोल रहा है। किन्तु तत्क्षण मेरी साधना ने मुझे सावधान कर दिया। कल्पनाओं को एक सात्विक मोड़ मिला कि यह प्रभाव मेरा वैयक्तिक प्रभाव नहीं है। यह तो वीतराग द्वारा निर्देशित परिवेश का प्रभाव है।

दिनांक 22-9-51

सोच-समझकर धैर्य के साथ किया जानेवाला कार्य ही उचित कार्य कहा जा सकता है। बिना सोचे-समझे उत्तेजना में आकर किया जानेवाला कार्य अनर्थकारी होता है। जरा-सी शक्ति का आभास होने पर मनुष्य एकदम उतावला हो जाता है और शीघ्र ही अपनी किंचित् शक्ति के आभास को पूर्ण शक्ति मानकर कार्यरूप में परिणत करने की कोशिश करता है। इसी से मनुष्य न वास्तविक शक्ति पा सकता है और न सफलता ही।

दिनांक 23-9-51

किसी भी सिद्धान्त के सत्य-निष्ठा पूर्वक आचरण से जो प्रचार होता है, वह वास्तविक एवं स्थायी रूप से जीवन का निर्माण करता है। किन्तु, जो प्रचार आचरण रूप से न होकर मौखिक आदि साधनों द्वारा होता है, वह अवास्तविक एवं अस्थायी होता है। उससे जीवन का ह्रास एवं कपटाचरण का वायु-मण्डल तैयार होता है, जो कि वास्तविक जीवन-निर्माणरूप स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध होता है।

दिनांक 24-9-51

किसी कार्य में अतिशीघ्र उत्तेजना आना अत्यधिक अपूर्णता का द्योतक है। ऐसे व्यक्ति हिताहित सोचने में असमर्थ रहते हैं। वे तात्कालिक फलाफल को देखकर अपनी शक्ति को पतंग की तरह झोंक देते हैं। जो ऐसा नहीं करता है, वह उनकी दृष्टि में कायर या भीरु दिखाई पड़ता है। मगर जो दूरदर्शितापूर्वक कार्य करने में तत्पर है, वह कायर व भीरु की श्रेणी में नहीं आ सकता।

दिनांक 25-9-51

प्रत्येक प्राणी प्रत्येक समय अपनी प्राणशक्ति का व्यय करता रहता है। उसमें विवेकशील प्राणी उसका सदुपयोग करता है। अन्य अधिकांश प्राणी तो इस व्यय को समझ ही नहीं पाते। उनकी अवस्था बड़ी शोचनीय होती है। अबोध प्राणी प्राण-नाशक पदार्थों का उपयोग करते समय कुछ नहीं समझ पाता। वह तो जो चीज सामने आई उसी को काम में लेना जानता है।

दिनांक 26-9-51

आजकल राजधानी में वोटों की प्रवृत्ति जोरों में चल रही है। वोट प्राप्त करने वाली प्रत्येक पार्टी वोटों के लिए भरसक प्रयत्न कर रही है। यह प्रयत्न सड़कों, रास्तों, पेम्फलेटों एवं भाषणों तक ही सीमित नहीं रहा है, किन्तु प्रत्येक घर में, प्रत्येक वयस्क मनुष्य को साम, दाम, दण्ड और भेद आदि का प्रयोग दिखाकर भी चल रहा है। खड़ा होने वाला व्यक्ति चाहे अयोग्य या स्वार्थ की जघन्य भावना की साकार मूर्ति भी क्यों न हो, उसको भी सुयोग्य एवं सत्पुरुष का चोला पहनाया जा रहा है। यह तरीका प्रजातन्त्र का नहीं, यह तो पूंजीपति, साम्राज्यवादी एवं कुटिलता का है। इससे प्रजातन्त्र उतना ही दूर है जितना कि घोर अंधकार से देदीप्यमान प्रकाश। यह प्रवृत्ति दैविक नहीं है, राक्षसी है; जनता को अन्धकार में ले जाने वाली है।

दिनांक 27-9-51

मनुष्य सोचता है, अमुक व्यक्ति दुष्ट है, अमुक पार्टी बुरी है, उनके साथ प्रेम नहीं किया जा सकता। वह कभी भी अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ सकता एवं उसे नम्र बनाकर कभी सद्रास्ते नहीं लाया जा सकता, आदि। ये सब बातें इन्सानियत के अभाव में कही जा सकती हैं। वास्तविक इन्सानियत के सामने यह निस्सार एवं फिजूल के विचार हैं। जिसने सही अर्थों में इन्सानियत प्राप्त कर ली है, उसके सामने कही जाने वाली सभी बुराइयाँ ठहर नहीं सकतीं। प्राणी तो दूर रहा, जड़ पदार्थ भी उसके सामने विरोध प्रकट नहीं कर सकता।

दिनांक 28-9-51

मनुष्य अधिकांश समय इधर-उधर की बातों में नष्ट कर देता है। मगर बहुत कम व्यक्ति यह विचार करते हैं कि हमारा समय व शक्ति हित कार्य में खर्च हो। यह जीवन एक अमूल्य प्रयोगशाला है। इनमें उसी चीज का प्रयोग करना है, जो अपूर्व एवं कल्याणप्रद हो। पर जिसकी विश्व में आवश्यकता न हो अथवा प्रचुर मात्रा में प्रयोग हो चुका हो, स्वलिप्सा से उसका प्रयोग करते रहना, समय व शक्ति का दुरुपयोग करना है।

दिनांक 28-9-51

विभिन्न मति यह दुनिया है। मनुष्य को कभी-कभी पशुओं की उपमा दी जाती है और उसको यह ज्ञान कराया जाता है कि तुम पशुओं के समान कार्य कर रहे हो। मगर यह उपमा देने वाले की दृष्टि का भ्रम है। वह बिना सोचे-समझे तोते की तरह बोल देता है, किन्तु आजकल की वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। निष्पक्ष और शान्त दिमाग से सोचा जाय तो ज्ञात हो सकता है कि विश्व को अत्यधिक नुकसान पशुओं की अपेक्षा मनुष्य नामधारी पहुँचा रहा है। पशु तो फिर भी अपेक्षाकृत हानि कम और फायदा ज्यादा पहुँचाता है। लेकिन अधिकांश मनुष्य इनसे ठीक विपरीत मालूम होते हैं।

दिनांक 30-9-51

किसी एक ही एकान्तिक नियम में बंधी हुई विचार-धाराएँ गन्दी हो जाती हैं, उनमें से सार तत्त्व धीरे-धीरे निकल जाते हैं और निस्सार एवं व्यर्थ के तत्त्व इकट्ठे हो जाते हैं। जिस समय उनमें सार तत्त्व का प्राबल्य होता है, उस समय उनका परिवर्तन करते रहने से उनकी तात्त्विक शक्ति नष्ट नहीं हो पाती।

दिनांक 1-10-51

जिसने मुझे जो कुछ भी सहायता दी, उसको मुझे नहीं भूलना चाहिए। उसका प्रत्युपकार करना मेरा कर्त्तव्य होना चाहिए। अगर मेरे दिल में ये भाव उठते हों कि अमुक व्यक्ति ने इतने दिन तो मेरी सहायता की और अब वह सहायता नहीं कर रहा है, तो उसके किञ्चिदपि दोषों को प्रकट करके उसको अपमानित करूँ या उसको भला-बुरा कहूँ तो मेरे समान कृतघ्न और कौन हो सकता है ? इस प्रकार के विचार इन्सानियत को भी तिलाञ्जलि देने वाले होते हैं।

दिनांक 2-10-51

इच्छाओं को रोकना जीवन को कुण्ठित करना है, विकास को रोकना है। उन्हें यथेष्ट प्रवृत्ति करने देना जीवन का विकास करना है।' यह विचार बिना मननपूर्वक गतानुगतिक लोकोक्ति को पुष्ट करता है। वस्तुतः इच्छाओं की यथेष्ट प्रवृत्ति को रोके बिना अपूर्व जीवन प्राप्त नहीं किया जा सकता है। नदी का प्रवाह रोके बिना उससे बिजली पैदा नहीं की जा सकती। उसको रोकने में कष्ट का सामना करना पड़ता है। इन्द्रियों की यथेष्ट प्रवृत्तियाँ रुकती हैं, तभी आत्मसाधना में सफलता प्राप्त की जा सकती है। इच्छाओं को रोकने में आन्तरिक संघर्ष अवश्य होता है, पर इस संघर्ष के बिना जीवन में बिजली (ऊर्जा) पैदा नहीं की जा सकती। हाँ, इसमें सतत् जागरूकता की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

दिनाक 3-10-51

जिस व्यक्ति ने प्राणी-मात्र के लिए हितकर सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है, जो व्यापक एवं वास्तविक दृष्टि से सही हैं तथा स्वानुभूतिपूर्वक समझे गए हैं, वह व्यक्ति निःस्वार्थभाव से उन सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करना अपना अमूल्य कर्त्तव्य समझेगा। उसमें कितनी भी आपत्तियाँ क्यों न आयें, कितना भी तिरस्कार क्यों न हो, पर वह स्वकर्त्तव्य से भी कभी विचलित नहीं हो सकता। जिस किसी अवस्था में, अपने आप पर काबू रखता हुआ वह संयमपूर्वक आगे बढ़ता ही जायेगा और अन्ततोगत्वा विजयलक्ष्मी उसी को वरेगी।

दिनांक 4-10-51

मनुष्य पुस्तकों एवं लेखकों के पास साहित्य की खोज करता है। वह समझता है कि साहित्यिक आनन्द का उद्‌गमस्थान पुस्तकों में है। अतएव वह अपना अधिकांश समय उन पुस्तकों को इधर-उधर उलटने एवं पढ़ने में व्यतीत कर देता है और कुछ इधर-उधर की पंक्तियां या भावों को लेकर कुछ ग्रन्थ भी रच डालता है। उनको नवीन साहित्य का नाम देकर मिथ्याभिमान का पोषण करता है तथा कृत्रिम आनन्द के रसास्वादन से स्वयं की जिज्ञासा को तृप्त कर लेता है। पर वह पवित्र अन्तःकरण की वास्तविक तुष्टि नहीं कर पाता, क्योंकि वह आरम्भ में ही भूल का शिकार बन जाता है। साहित्य का उद्‌गमस्थान पुस्तकें या लेखक नहीं, वे तो साधनमात्र हो सकते हैं। वस्तुतः उनका उद्‌गम तो प्रकृति एवं उसका कार्यरूप साहित्य है।

दिनांक 5-10-51

जिसने मुझे जो कुछ भी सहायता दी, उसको मुझे नहीं भूलना चाहिए। उसका प्रत्युपकार करना मेरा कर्त्तव्य होना चाहिए। अगर मेरे दिल में ये भाव उठते हों कि अमुक व्यक्ति ने इतने दिन तो मेरी सहायता की और अब वह सहायता नहीं कर रहा है, तो उसके किञ्चिदपि दोषों को प्रकट करके उसको अपमानित करूँ या उसको भला-बुरा कहूँ तो मेरे समान कृतघ्न और कौन हो सकता है ? इस प्रकार के विचार इन्सानियत को भी तिलाञ्जलि देने वाले होते हैं।

दिनांक 2-10-51

इच्छाओं को रोकना जीवन को कुण्ठित करना है, विकास को रोकना है। उन्हें यथेष्ट प्रवृत्ति करने देना जीवन का विकास करना है।' यह विचार बिना मननपूर्वक गतानुगतिक लोकोक्ति को पुष्ट करता है। वस्तुतः इच्छाओं की यथेष्ट प्रवृत्ति को रोके बिना अपूर्व जीवन प्राप्त नहीं किया जा सकता है। नदी का प्रवाह रोके बिना उससे बिजली पैदा नहीं की जा सकती। उसको रोकने में कष्ट का सामना करना पड़ता है। इन्द्रियों की यथेष्ट प्रवृत्तियाँ रुकती हैं, तभी आत्मसाधना में सफलता प्राप्त की जा सकती है। इच्छाओं को रोकने में आन्तरिक संघर्ष अवश्य होता है, पर इस संघर्ष के बिना जीवन में बिजली (ऊर्जा) पैदा नहीं की जा सकती। हाँ, इसमें सतत् जागरूकता की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

दिनाक 3-10-51

जिस व्यक्ति ने प्राणी-मात्र के लिए हितकर सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है, जो व्यापक एवं वास्तविक दृष्टि से सही है तथा स्वानुभूतिपूर्वक समझे गए हैं, वह व्यक्ति निःस्वार्थभाव से उन सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करना अपना अमूल्य कर्त्तव्य समझेगा। उसमें कितनी भी आपत्तियां क्यों न आयें, कितना भी तिरस्कार क्यों न हो, पर वह स्वकर्त्तव्य से भी कभी विचलित नहीं हो सकता। जिस किसी अवस्था में, अपने आप पर काबू रखता हुआ वह संयमपूर्वक आगे बढ़ता ही जायेगा और अन्ततोगत्वा विजयलक्ष्मी उसी को वरेगी।

दिनांक 4-10-51

मनुष्य पुस्तकों एवं लेखकों के पास साहित्य की खोज करता है। वह समझता है कि साहित्यिक आनन्द का उद्गमस्थान पुस्तकों में है। अतएव वह अपना अधिकांश समय उन पुस्तकों को इधर-उधर उलटने एवं पढ़ने में व्यतीत कर देता है और कुछ इधर-उधर की पंक्तियां या भावों को लेकर कुछ ग्रन्थ भी रच डालता है। उनको नवीन साहित्य का नाम देकर मिथ्याभिमान का पोषण करता है तथा कृत्रिम आनन्द के रसास्वादन से स्वयं की जिज्ञासा को तृप्त कर लेता है। पर वह पवित्र अन्तःकरण की वास्तविक तुष्टि नहीं कर पाता, क्योंकि वह आरम्भ में ही भूल का शिकार बन जाता है। साहित्य का उद्गमस्थान पुस्तकें या लेखक नहीं, वे तो साधनमात्र हो सकते हैं। वस्तुतः उसका उद्गम तो प्रकृति एवं उसका कार्यरूप साहित्य है।

दिनांक 5-10-51

सशक्त अवस्था में कम-से-कम ६ घण्टा—समय किसी-न-किसी रचनात्मक कार्य में प्रत्येक इन्सान को लगाना चाहिए । अव्वल तो प्रत्येक कार्य में निष्काम वृत्ति रहनी चाहिए । अगर इतनी निष्काम-वृत्ति नहीं रहती हो, तो वास्तविक आवश्यकता के अलावा तो निष्काम-वृत्ति अवश्य रहनी चाहिए । जो व्यक्ति इस सीमा को छोड़कर केवल स्वार्थ-वृत्ति से कार्य करते हैं या बिल्कुल निष्क्रिय होकर दीनतापूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, वे राष्ट्र व विश्व के लिए हानिप्रद होते हैं । ऐसे व्यक्ति शोषक एवं क्रूर की श्रेणी में पहुँच सकते हैं । अतएव प्रत्येक इन्सान को कम-से-कम स्वकर्त्तव्य का ध्यान अवश्य रखना चाहिए ।

दिनांक 6-10-51

विकास और ह्रास की दोनों अवस्थाएं अन्तःकरण से सम्बन्ध रखती हैं । बाह्य निमित्त भी उसमें कारण बनते हैं, मगर उनका स्थान गौण है । कितना ही नीचे स्तर पर रहा हुआ प्राणी उच्च अन्तःकरण से विश्व के विविध दृश्यों को देखता है, सबके अन्दर दिव्य शक्ति का अनुभव करता है और वैसा ही अपना आचरण बनाता है, तो वह अवश्य ही एक रोज जीवन के उच्च स्तर पर पहुँच जाता है । जो इन्सान उच्च स्तर पर पहुँचकर स्वयं को महान एवं श्रेष्ठ समझता है, विश्व के विविध दृश्यों को दोषपूर्ण एवं घृणा की दृष्टि से देखता है और वैसा ही आचरण उनके साथ करता है तो वह एक समय अवश्य अत्यन्त निकृष्ट स्तर पर पहुँच जाता है ।

दिनांक 7-10-51

आजकल आजादी के लिए विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी इच्छानुसार बौद्धिक व्यायाम कर रहे हैं। किसी का कहना है—हमको पूंजीपति आजाद नहीं होने देते अथवा यह यन्त्रवाद हमारी आजादी में बाधक हो रहा है। किसी का कहना है हमारी आजादी सफेद टोपी ने छीन ली, आदि। जितने मुँह उतने मत बनते जा रहे हैं। मगर वास्तविक दृष्टि से सोचने का कष्ट बहुत कम व्यक्ति करते हैं। आजादी क्या कोई चीज है जो हमसे कोई छीन ले। वह हमारे से कोई नहीं छीन सकता, अगर सही रूप से आजादी समझ ली गई हो। आजादी की मूल स्थिति हमारे अन्दर विद्यमान है, उसको हम वास्तविक रूप से अपनाएं तो हम निश्चित रूप से आजाद एवं आबाद हो जायें और वह है सत्य को सामने रखकर विवेक एवं धैर्य पूर्वक कर्मशीलता।

दिनांक 8-10-51

जीवन के यात्रा-काल में किसी भी इन्सान को पापी या दुष्ट, कुपात्र या नीच कहना व समझना, स्वयं को वैसा बनाना है। प्रत्येक इन्सान के साथ प्रेमपूर्वक पेश आना, उसकी स्थिति, समय की स्थिति एवं उस स्थान के वातावरण को देखकर सहानुभूति पूर्वक पवित्र एवं व्यापक वायुमण्डल का निर्माण करना जीवन-यात्रा का कर्त्तव्य होना चाहिये।

दिनांक 9-10-51

प्रगतिशील पुरुष समय एवं परिस्थिति को देखकर किसी कार्य-विशेष पर जोर दिया करते हैं। उनका कोई त्रैकालिक विशेष कार्य निश्चित नहीं होता। विशेष कार्य का निश्चय समय एवं परिस्थिति पर बहुत कुछ आश्रित रहता है। इससे वे विश्व एवं स्वयं को बहुत आगे ले जा सकते हैं। मगर साधारण व्यक्ति इसे समझ नहीं पाते। वे तो प्रगतिशील पुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट विशेष कार्य को ही सब कुछ मानकर बैठ जाते हैं। उनके लिए वही चरम सीमा हो जाती है, ऐसी स्थिति में वे पीछे रह जाते हैं, आगे नहीं बढ़ सकते।

दिनांक 10-10-51

आज हिन्दुस्तानी सही रास्ते से भटक गये हैं। उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति इस समय बड़ी शोचनीय है। इन दोनों परिस्थितियों के आधार पर ही शान्ति एवं उन्नति की जा सकती है। अतएव प्रत्येक इन्सान यह प्रतिज्ञा कर ले कि वह प्रत्येक समय को सार्थक बनाएगा, किसी भी समय ऐसा कार्य नहीं करेगा, जो वस्तुत: निरर्थक एवं अनावश्यक हो। यह प्रतिज्ञा मनसा, वाचा, कर्मणा कार्यरूप में परिणत हो जाने पर ऐसी कोई भी अवस्था नहीं रह सकती, जो कि हिन्दुस्तान को शोचनीय दशा में रख सके। यही आर्थिक एवं सामाजिक समुन्नति का प्रमुख साधन है।

दिनांक 11-10-51

विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से सम्बद्ध है। कोई भी ऐसा नहीं, जो एक-दूसरे से बिल्कुल निरपेक्ष हो। समाज के अन्दर ही सब कुछ है। अर्थात् समस्त उन्नति की जननि कहो तो समाज है। समाज के सुव्यवस्थित रहने पर ही कुछ किया जा सकता है। अत: सामाजिक सुधार अत्यावश्यक है। उनको सुधारने का तरीका अपेक्षाकृत नवीन हो सकता है, किन्तु सर्वथा नवीन समाज की रचना नहीं की जा सकती। यह जो मैं विचार कर रहा हूँ, वास्तविक एवं व्यापक समाज का विषय है, न कि विकृत—समाजाभास का। जो व्यक्ति यह कह सकता है कि समाज और आध्यात्मिकता बिल्कुल पृथक् हैं, उनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं, वह कथन विकृत समाजाभास में पले हुए अबोध बच्चे के समान है। ऐसे व्यक्तियों को अभी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है।

दिनांक 12-10-51

अहिंसा की परिभाषा में 'नहीं मारना' इतना ही अर्थ लिया जाय तो समझना चाहिए कि हम चैतन्य से जड़ बनने की कोशिश कर रहे हैं। केवल नहीं मारने का अर्थ पत्थर की तरह ठप्प होना ही होगा और वह चैतन्य के स्वभाव से विपरीत होगा। चैतन्य स्वभाव ही यह सूचित करता है कि नहीं मारना और मारे जाते प्राणी की प्राण-रक्षा करना, जड़ से चैतन्य को पृथक् स्वीकार करना है। यह वैज्ञानिक सत्य है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

दिनांक 13-10-51

जिस समय जैसा देश हो, उस समय उसी के अनुरूप कार्य एवं व्यवहार होना चाहिए और जिस समय जैसा कार्य किया जाता हो, उस समय उसी कार्य में मन, वचन और काया का एकाकार होना जरूरी है। अगर ऐसा नहीं होता है, तो किसी भी कार्य में वास्तविक सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। विपरीत एवं विकृत कार्य से दूषित वातावरण तैयार होता है, जो किसी के लिए हितकर एवं सुखद नहीं हो सकता।

दिनांक 14-10-51

सत्य समझना, उसको आचरण में लाना तलवार की पैनी धार पर चलने के समान है। आवश्यक व्यावहारिक सत्य भी यदि प्रत्येक इन्सान पूर्ण-रूपेण आचरण में उतार ले तो आज की बाह्य अशान्तिमय स्थिति का प्रायः अन्त हो सकता है। मगर जब व्यावहारिक सत्य का भाग भी अपनाने में पूरा ध्यान नहीं जाता है तो फिर वास्तविक सत्य को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यह तो जीवन का पूर्ण विकसित रूप है। व्यावहारिक सत्य को जीवन में उतारकर ही उसकी ओर आगे बढ़ा जा सकता है, क्योंकि विकास क्रमशः होता है।

दिनांक 15-10-51

किसी भी कार्य में सफलता या विफलता हमारे दैनिक जीवन पर निर्भर करती है। जागृत अवस्था में कुविचारों पर हमने विजय प्राप्त कर ली, तो प्रायः कोई अवस्था ऐसी नहीं कि जिसमें हम सफल न हो सकें। अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों की सभी अवस्थाओं को हम इच्छानुसार बना सकते हैं। हम सुख या दुःख, स्वर्ग या नरक, आनन्द या विषाद, मोक्ष या संसार वगैरह-वगैरह जागृत अवस्था में ही प्राप्त कर सकते हैं, यह हमारे अधिकार की बात है। अगर हम वास्तविक स्वरूप को समझकर कर्त्तव्य कर्म करना चाहें, तो हमारी उपलब्धि को कोई नहीं रोक सकता।

दिनांक 16-10-51

साधना में सबसे ज्यादा खतरनाक है—प्रमाद, वह अनेक रूपों में प्राणी को फंसा लेता है। इसके जाल को तोड़कर जो हर समय नियमित कार्य में लगा रहता है और शुद्ध अंतःकरण की प्रेरणा को महत्त्व देता है, वह प्रायः सफल होता है। उसके सामने खतरा या आपत्ति नाम की कोई शक्ति अधिक समय नहीं ठहर सकती।

दिनांक 17-10-51

सत्य के साथ किसी संस्था में रहने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, किन्तु असत्य के साथ रहना मैं पसन्द नहीं करूंगा। जंगल या प्राकृतिक पदार्थों के साथ रहना पसन्द करूंगा, असत्य या दम्भाचार में प्रवृत्त होने के बजाय। कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, मैं सत्य को तिलाञ्जलि कभी नहीं दूंगा। सत्यान्वेषक लोगों की प्रवृत्ति सत्य का अंश है।

दिनांक 18-10-51

साधारण जनता अनेक दृष्टिकोणों के विभिन्न विचारों को समझ नहीं पाती। उसका ध्यान आर्थिक व सामाजिक व्यवहार्य नियमों पर ही विशेष रूप से रहता है। उन्हीं के अनुसार अपना हिताहित सोच-कर वह किसी के पक्ष या विपक्ष में अपनी दृष्टि बना लेती है। अत-एव विभिन्न दृष्टियों से सोचने वाले विचारकों को चाहिये कि अपने बौद्धिक दृष्टिकोण की विभिन्नता को बुनियादी व्यवहार में लाएं। बौद्धिक समन्वयात्मक अनेकता और बुनियादी एकता ही प्रगतिशीलता की परिचायक है। इससे विपरीत मार्ग प्रतिगामिता का होगा।

दिनांक 19-10-51

भाषाज्ञान ही पूर्ण शिक्षा का रूप नहीं ले सकता। वह तो स्वानु-भूति प्रकट करने के साधनों में से अनुकरणशील साधन का अंशमात्र है। आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं का हल करने के लिए जो शिक्षा दी जाती है, वह भी आंशिक शिक्षा ही कही जा सकती है। सम्पूर्ण सामाजिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं का हल जिस कला से हो सकता हो, वही कला शिक्षा का पूर्ण रूप पा सकती है।

दिनांक 20-10-51

अगर अपने वचन को सार्थक एवं असरकारक देखना चाहते हो, तो कम बोलो, आवश्यकता के अनुसार वाणी का प्रयोग करो, अवसर एवं समय का अवलोकन कर शब्द का उच्चारण करो। इससे तुम्हारे शब्दों की कदर होगी और वाचिक प्रयोग सार्थक एवं हित-कर होगा। मुँह मिला है, जिह्वा मिली है, इसका प्रयोग हर समय होना ही चाहिए, ऐसा विचार कर जो हर समय बोलता ही रहता है, वह अपनी वाचिक शक्ति को व्यर्थ नष्ट करके विफल होता है। उसके शब्दों की कोई इज्जत नहीं करता।

दिनांक 21-10-51

किसी भी कार्य में सफलता या विफलता हमारे दैनिक जीवन पर निर्भर करती है। जागृत अवस्था में कुविचारों पर हमने विजय प्राप्त कर ली, तो प्रायः कोई अवस्था ऐसी नहीं कि जिसमें हम सफल न हो सकें। अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों की सभी अवस्थाओं को हम इच्छानुसार बना सकते हैं। हम सुख या दुःख, स्वर्ग या नरक, आनन्द या विषाद, मोक्ष या संसार वगैरह-वगैरह जागृत अवस्था में ही प्राप्त कर सकते हैं, यह हमारे अधिकार की वात है। अगर हम वास्तविक स्वरूप को समझकर कर्त्तव्य कर्म करना चाहें, तो हमारी उपलब्धि को कोई नहीं रोक सकता।

दिनांक 16-10-51

साधना में सबसे ज्यादा खतरनाक है—प्रमाद, वह अनेक रूपों में प्राणी को फंसा लेता है। इसके जाल को तोड़कर जो हर समय नियमित कार्य में लगा रहता है और शुद्ध अंतःकरण की प्रेरणा को महत्त्व देता है, वह प्रायः सफल होता है। उसके सामने खतरा या आपत्ति नाम की कोई शक्ति अधिक समय नहीं ठहर सकती।

दिनांक 17-10-51

सत्य के साथ किसी संस्था में रहने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, किन्तु असत्य के साथ रहना मैं पसन्द नहीं करूंगा। जंगल या प्राकृतिक पदार्थों के साथ रहना पसन्द करूंगा, असत्य या दम्भाचार में प्रवृत्त होने के बजाय। कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, मैं सत्य को तिलाञ्जलि कभी नहीं दूंगा। सत्यान्वेषक लोगों की प्रवृत्ति सत्य का अंश है।

दिनांक 18-10-51

साधारण जनता अनेक दृष्टिकोणों के विभिन्न विचारों को समझ नहीं पाती। उसका ध्यान आर्थिक व सामाजिक व्यवहार्य नियमों पर ही विशेष रूप से रहता है। उन्हीं के अनुसार अपना हिताहित सोच-कर वह किसी के पक्ष या विपक्ष में अपनी दृष्टि बना लेती है। अत-एव विभिन्न दृष्टियों से सोचने वाले विचारकों को चाहिये कि अपने बौद्धिक दृष्टिकोण की विभिन्नता को बुनियादी व्यवहार में लाएं। बौद्धिक समन्वयात्मक अनेकता और बुनियादी एकता ही प्रगतिशीलता की परिचायक है। इससे विपरीत मार्ग प्रतिगामिता का होगा।

दिनांक **19-10-51**

भाषाज्ञान ही पूर्ण शिक्षा का रूप नहीं ले सकता। वह तो स्वानु-भूति व्यक्त करने के साधनों में से अनुकरणशील साधन का अंशमात्र है। आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं का हल करने के लिए जो शिक्षा दी जाती है, वह भी आंशिक शिक्षा ही कही जा सकती है। सम्पूर्ण सामाजिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं का हल जिस कला से हो सकता हो, वही कला शिक्षा का पूर्ण रूप पा सकती है।

दिनांक **20-10-51**

अगर अपने वचन को सार्थक एवं असरकारक देखना चाहते हो, तो कम बोलो, आवश्यकता के अनुसार वाणी का प्रयोग करो, अवसर एवं समय का अवलोकन कर शब्द का उच्चारण करो। इससे तुम्हारे शब्दों की कदर होगी और वाचिक प्रयोग सार्थक एवं हित-कर होगा। मुँह मिला है, जिह्वा मिली है, इसका प्रयोग हर समय होना ही चाहिए, ऐसा विचार कर जो हर समय बोलता ही रहता है, वह अपनी वाचिक शक्ति को व्यर्थ नष्ट करके विफल होता है। उसके शब्दों की कोई इज्जत नहीं करता।

दिनांक **21-10-51**

यदि केवल यह सोचा जाय कि बिना किसी साधन के व्यक्ति ही स्वतंत्र रूप से विकास कर सकता है, तो यह गलत विचार होगा। यह कभी सम्भव नहीं हो सकता कि बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति विकास कर सकता हो। हाँ, अपेक्षादृष्टि से व्यक्तिस्वातन्त्र्य स्वीकार्य हो सकता है न कि केवल निरपेक्ष व्यक्तिस्वातन्त्र्य।

दिनांक 22-10-51

आजकल राजनैतिक क्षेत्र में जो हम देख रहे हैं, वह निष्प्राण कार्य हो रहा है। आज की लड़ाई महत्त्वाकांक्षा और कुर्सियों की है, न कि जनतन्त्र की। जनतन्त्र में लड़ने व गाली-गिलोच की आवश्यकता नहीं। न राजतन्त्र और दण्ड की आवश्यकता है। न गुट या पार्टीबाजी की जरूरत है और न जोर-जबरदस्ती से किसी पर आज्ञा चलाने की। आज का समय प्राचीनकाल से बिल्कुल परिवर्तित-सा हो गया है। आज की मुख्य आवश्यकता उस विचार के इन्सानों की है, जो वास्तविक कर्त्तव्य के प्रति हृदय-परिवर्तन कर सकें।

दिनांक 23-10-51

आर्थिक समस्या के हल में अनेक बाधाएँ हैं। उनमें पूंजीपति आदि भी शामिल हैं। उन बाधाओं को दूर करने में हिंसक तरीका गलत मार्ग है। इससे समस्याएँ उलझेंगी ही, सुलझेंगी नहीं। अहिंसक तरीके से बुनियादी आवश्यकताओं में स्वावलम्बीपन बहुत कुछ सहायक हो सकता है। मगर जब तक पदार्थों की दुरुपयोगिता एवं व्यर्थ अपव्यय नहीं मिटेगा, तब तक आर्थिक समस्या का सही हल नहीं हो सकता।

दिनांक 24-10-51

अन्तःकरण में अनन्त वासनाएँ छिपी हुई हैं। जिसका जिस समय प्रबल निमित्त आता है, उसी समय वह उभर पड़ती है। हर समय उन्हीं वासनाओं का परस्पर संघर्ष एवं विप्लव होता रहता है। अतएव अधिकांश मनुष्य स्वजीवन की वास्तविक झाँकी नहीं देख सकते और उसके विना जीवन का सही मार्ग नहीं मिल सकता। प्रशान्त एवं निर्मल मन की स्थिति ही इसके साधन रूप में सिद्ध हो सकती है।

दिनांक 25-10-51

सवाल यह है कि व्यक्ति के विकास से ही समष्टि का विकास सम्भव है। फिर समष्टि की मुख्यता और व्यक्ति की गौणता कैसे ? समाधान के लिए हमें व्यक्ति के विकास-क्रम की ओर ध्यान देना होगा। साधारण दृष्टि से देखने पर बाह्य रूप से यही मालूम होता है कि व्यक्ति की प्रधानता होनी चाहिये। मगर वस्तुतः यह दृष्टि सूक्ष्म चिन्तन का अभाव द्योतन करती है। विकास समष्टि प्राधान्येन होता है। इसके अभाव में विकास न होकर ह्रास होता है। व्यक्ति अपने-आपको समष्टि के लिए अर्पण कर देता है, तभी उसका विकास सम्भव है। विकास की चरम सीमा समष्टि प्रधानता से भी बहुत दूर, बहुत दूर पहुँचाती है। इसका विशाल अन्वेषण हुए विना सही विकास-क्रम जल्दी समझ में नहीं आ सकता।

दिनांक 26-10-51

नई तालीम दी जाय, मगर नई तालीम का नक्शा वास्तविक एवं स्थायी शान्ति का हो। बुनियादी आवश्यकताओं के साधनों का विकेन्द्रीकरण होकर अन्न-वस्त्र आदि जरूरी चीजों में स्वावलम्बी एवं स्वतन्त्र हो जायें, फिर भी जब तक प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे का अङ्ग है, एक कुटुम्बी है, एक ही प्रकृति माता की सन्तान-सहोदर भाई हैं और उनके साथ मेरा वही कर्त्तव्य है जो कि स्वशरीर के साथ है, ऐसी विश्व-व्यापी एकात्मीयता की शिक्षा नई तालीम के नक्शे में मुख्य रूप से नहीं रखी जायेगी, तब तक वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन एवं स्थायी शान्ति नहीं हो सकती।

दिनांक 27-10-51

यहाँ जो वर्गहीनता का प्रयोग किया है, वह आपेक्षिक है। मेरा अभिप्राय शत्रुता, ईर्ष्यापन, जातीय ऊँच-नीचता, कार्य से छूआछूतपन, गुलामीपन, शूद्रता, कुपात्रता आदि इन्सान में विषमता की दीवार खड़ी करने वाले वर्ग से है, न कि शुद्ध इन्सानियत युक्त इन्सानी वर्ग से।

दिनांक 28-10-51

शासनरहितता से अभिप्राय उस शासन से है, जो शासन शोषण या हिंसा से युक्त हो, जिसमें विचार-स्वातन्त्र्य का दमन नहीं किया जाता हो। शासन इन्सानियत से वंचित रखने वाला नहीं हो, वल्कि प्रेम या अहिंसा का शासन तो अवश्य हो। इसके विना प्रगति नहीं की जा सकती।

दिनांक 29-10-51

अन्त:संघर्ष के अनुसार प्रतिकूल विचार-धाराओं पर प्रहार करने के लिए जिस समय मननपूर्वक प्रहारक विचारों का मोर्चा तैयार होता है और जिस समय प्रहार करना चाहता है, वह समय अगर चूक जाता है तो फिर उसके ऊपर मनन चलता है और उस मोर्चे को भी छिन्न-भिन्न कर उसका सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए वह प्रत्येक भाग पर पहुँच जाता है। उस समय पहले का उत्साह शान्त हो जाता है और अगर मननशील व्यक्ति स्वयं पर काबू नहीं रख सका तो वहीं निस्तेज होकर बैठ जायगा। फिर उस विषय में प्रगति उसको बहुत कठिन मालूम होगी और अगर स्वयं पर काबू रख सका तो प्रत्येक भाग का निरीक्षण कर संशोधन करता हुआ उसी मोर्चे पर आयेगा और पहले से भी अधिक दृढ़ता के साथ संघर्ष करता हुआ शान्तिपूर्ण तरीके से आगे बढ़ेगा।

दिनांक 30-10-51

समय और परिस्थिति के अनुसार इन्सान परिवर्तित होता है। उसके सामने जैसा वातावरण होता है, वह उसी के अनुकूल अपने विचारों को ढालता है और प्रतिकूल वातावरण को भी समयानुसार बदलने की चेष्टा करता है। वह उसको परिवर्तित कर सकता है, किन्तु सर्वथा नष्ट नहीं कर पाता। यह सब मध्यम श्रेणी के विचारकों की परिस्थिति है। मगर जो वस्तुतः सत्यशोधक एवं विवेकशील पुरुष है, वह स्वयं पवित्र अन्तःकरण को सामने रखकर निर्लिप्त विशाल दृष्टि से नवीन वातावरण तैयार करता है। वह किसी प्रवाह या उत्तेजित वातावरण में नहीं बहता, किन्तु निश्चल धैर्य के साथ आगे बढ़ता है।

दिनांक 31-10-51

विचार-शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए, उसे व्यर्थ की बातों में नष्ट नहीं करना चाहिए। यह एक ऐसा शस्त्र है जिसके सदुपयोग करने से स्व-पर की रक्षा और दुरुपयोग से स्व-पर का नाश होता है। अगर इन्सान यह सोचता है कि मेरी उन्नति में अमुक व्यक्ति बाधक है, उसको कैसे हटाऊँ या उसका कैसे खात्मा हो, एवं उसको कैसे दुःख और आपत्ति में गिराऊँ, तो वह अपनी विचारशक्ति का दुरुपयोग करता है। विचारशक्ति का सदुपयोग करने वाला सोचता है कि मुझे आपत्ति में डालने वाला कोई नहीं है। जो मेरी उन्नति में बाधक दिखता है वह बाधक नहीं, साधक है। वह चारों ओर से विचारों को केन्द्रित कर सत्य के मार्ग में गति और कर्त्तव्य को देखता है। 'अगर मेरी गति एवं कर्त्तव्य निरन्तर रूप से जारी है तो विश्व का कोई भी पदार्थ मुझे रोक नहीं सकता' ऐसा सोचना विचारों का सदुपयोग है।

दिनांक 1-11-51

जब तक किसी भी विषय के संघर्ष में नहीं आया जाय, तब तक किसी भी विषय की मजबूती नहीं आ सकती। जो व्यक्ति प्रत्येक शक्य विषय से अपने को बचाने की कोशिश करता है, वह प्रत्येक विषय में कच्चा रहता है एवं सही माने में उन्नति नहीं कर पाता है। किसी भी व्यक्तिविशेष या परिस्थितिविशेष से भय खाना और उससे पीछे हटना या स्वयं पर काबू नहीं रख सकना अत्यधिक कायरता है।

दिनांक 2-11-51

जिस पदार्थ के जैसे गुण या अवगुण हों, उस पदार्थ के विषय में निष्पक्ष दृष्टि से वर्णन करने में कोई आपत्ति नहीं है। अगर वास्तविक वर्णन नहीं किया गया तो साधारण जनता भ्रम में पड़कर अपना या अन्य का भी अहित कर सकती है। प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक पदार्थ की तह में बैठकर गुणावगुण नहीं देख सकता। इसका निरीक्षण तो वही मनुष्य कर सकता है, जो व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित, निर्लिप्त एवं निष्पक्ष हो।

दिनांक 3-11-51

कितना ही सुन्दर सिद्धान्त हो और उसका शाब्दिक प्रचार सारे संसार में भी क्यों न कर दिया हो, उसे वास्तविक प्रचार नहीं कहा जा सकता। वास्तविक प्रचार जितना आचरण द्वारा हो सकता है, उतना अन्य साधनों से नहीं हो सकता। चाहे उनको (आचरणकर्त्ताओं की) संख्या कम ही क्यों न हो, मगर वही स्थायी होता है।

दिनांक 4-11-51

मनुष्य स्वाभाविक तौर से शान्त वातावरण पसन्द करता है। उसी की प्राप्ति के लिए कुछ कोशिश करता है। अंशमात्र का आभास पाकर वह सोचता है कि मैंने सफलता पा ली। मगर जिस समय उससे विपरीत वातावरण सामने आता है, उस समय वह आभास किधर रह जाता है और मनुष्य किधर चला जाता है। वह स्वयं नहीं सोच पाता कि मैं कहाँ हूँ............... ?

दिनांक 5-11-51

दिल एवं दिमाग का असर शरीर पर पड़ता है और वह शरीर के प्रत्येक अङ्ग से बाह्य वायुमण्डल में फैल जाता है। बिना बोले वह सूक्ष्म रूप से प्रत्येक पदार्थ पर असर करता रहता है। जिस भाव की जितनी प्रबल शक्ति होगी, वह जनसाधारण पर उतनी ही अधिक असर करेगी और समय पाकर अपने ढांचे में ढाल देगी। विचारक पुरुषों के साथ उसका संघर्ष होगा। उसमें या तो प्रबल शक्ति विजय प्राप्त कर लेगी या तीसरी शक्ति की सृष्टि होगी।

दिनांक 6-11-51

छोटी-छोटी बातों को लेकर पद-लिप्सा से कोई गुट या पार्टी बनाना जनता के प्रति धोखा करना है। यह देश या समाज की सुव्यवस्था की ओट में देश व समाज के प्रति द्रोह है। वास्तविक रूप से जन-सेवा करने वाले ऐसा कभी नहीं सोचते। उनके तन, मन और धन व्यर्थ के कामों में नष्ट नहीं होते। वे व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे पार्टीबाजियों में नहीं पड़ते। वे सही रूप से कर्त्तव्य को सामने रखकर चलते हैं, न कि निजी या व्यक्तिगत स्वार्थ को।

दिनांक 7-11-51

शान्त दिमाग के बिना वस्तुस्थिति का सही अनुभव नहीं हो सकता। बुद्धि-विस्तार के लिए प्रेरक विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है। जय-पराजय की दृष्टि से किया गया विचार-विमर्श सही निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। सही निर्णय पर पहुँचने के लिए पवित्र दिल, शान्त दिमाग एवं जिज्ञासावृत्ति की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

दिनांक 8-11-51

किसी चीज का पहले भार मालूम होता है। उसका लगातार अभ्यास होने पर वही चीज हल्की मालूम होने लगती है। इसमें अधिक अभ्यास की आवश्यकता रहती है। अभ्यास नहीं करने पर हर एक काम कठिन हो जाता है, चाहे वह छोटा भी क्यों न हो।

दिनांक 9-11-51

मनुष्य शिक्षा के लिए बहुत कोशिश करता है और कुछ अक्षरी या मौखिक ज्ञान से शिक्षा युक्त बातें याद कर लेता है और उसी के ऊपर श्रद्धा रखकर वह स्व-पर के जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है, मगर वह सही प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि स्वानुभूति के बिना वास्तविक शिक्षा नहीं पाई जा सकती। वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने के लिए पवित्र अन्तःकरण की आवश्यकता होती है। बाह्य साधन तो निमित्तमात्र होते हैं। जब तक व्यक्ति यह सोचता रहेगा कि आपत्ति या कष्ट का सामना न करना पड़े तब तक वह सही शिक्षा नहीं पा सकता। जो शिक्षा दूसरे को देनी है, वह शिक्षा पहले अपने पर आजमाकर अनुभव करे कि यह मुझे हितकर एवं प्रियकर मालूम होती है या नहीं। फिर जो उसे हितकर एवं प्रियकर ज्ञात हो, वही दूसरे को दें।

दिनांक 10-11-51

'अमुक बड़े आदमी ने अमुक मत का समर्थन कर दिया, वह अधिक फैलेगा, हमारे मत का समर्थन नहीं हुआ, अतएव हमारा मत कमजोर हो जायेगा, उसके पास हमें भी पहुँचना चाहिए' ऐसी बातें कमजोर दिल के मनुष्य कहा करते हैं। यह नहीं सोचते कि हमने जो मत स्वीकार किया है, वह सोच-विचार कर किया है या बिना सोचे। अगर सही माने में सोचा है और उसे जीवनोपयोगी अनुभव भी कर रहे हैं, तो हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। निर्भयता एवं दृढ़ता से उसका अनुसरण करते हुए आगे बढ़ना चाहिए। दूसरे किसी असंयमी की प्रामाणिकता की छाप का गुलाम रहने वाला मनुष्य कभी सुख तथा शान्ति नहीं पा सकता। सुख एवं शान्ति का सही माने में वही अनुभव कर सकता है, जो पवित्र अन्तःकरण की प्रामाणिकता तथा दिव्य दृष्टि की छाप चाहता हो।

दिनांक 11-11-51

प्राणी को अपने स्थान से कोई नहीं हटा सकता। अन्य प्राणी हटाने की कोशिश अवश्य करते हैं। मगर वह स्वयं अपने कर्त्तव्य पर अटल रहकर अपने अन्दर उन आपत्तिजनक कोशिशों को स्थान नहीं देता है, तो कोई कारण नहीं कि वह अपने स्थान से जरा भी हट सके। अपने स्थान से विचलित होकर वह तभी दुःख का अनुभव करता है, जबकि स्वकर्तव्य को छोड़कर वह भागना प्रारम्भ करता है। भागते हुए को छोटा प्राणी भी आतंकित कर सकता है।

दिनांक 13-11-51

जो कुछ भी बाह्य नेत्रों से दिखाई दे रहा है, वह तो उड़ते हुए निस्सार बारीक भूसे के समान है। अतः इसी में उलझ जाना अमूल्य जीवन को व्यर्थ गँवाना है, जोकि बुद्धिमान मनुष्य के लिए बहुत ही विचारणीय है। इस विषय पर वास्तविक वस्तुस्थिति अवर्णनीय है, पर अनुभवगम्य अवश्य है। यदि वह अनुभव सही माने में हो जाय तो उसे चिन्तामणि रत्न की उपमा सृष्टि के वास्तविक अन्तर्रहस्य के रूप में दी जा सकती है।

दिनांक 7-6-65

कोई भी महापुरुष बने और प्राणी मात्र के लिये कल्याणप्रद मार्ग प्रशस्त करे, ऐसी भावना जिस मानव के अन्तःकरण में वार-बार उठती हो, वह मानव एक रोज अवश्य महापुरुष वन सकता है।

दिनांक 8-6-65

स्वानुभूति प्राप्त विचारशील मानव जिस अपूर्व गहराई का, जितनी मात्रा में स्वयं अनुभव करता है, उतनी ही मात्रा में वह वचन अथवा लेखनी द्वारा अन्य के समक्ष नहीं रख पाता। कारण कि अनुभव की गहनता अतुल होती है। शब्द उसको पूर्णरूपेण वहन करने में सर्वथा अक्षम रहते हैं। दिव्य पदार्थ का साक्षात्कार दिव्य अनुभव ही कर सकता है और दिव्य अनुभव की उपलब्धि सर्व-श्रेष्ठ लक्ष्य के स्थिर होने पर संचित होनी प्रारम्भ होती है।

दिनांक 8-6-65

किसी भी विषय में लगाव की अत्यधिकता होने पर मन उस विषय में प्रवेश पाने की चेष्टा करता है और यदि निरन्तर लगाव का आकर्षण बढ़ता रहे तथा मन की प्रवेशगति भी उसी तरह बढ़ती रहे, तो इस विषय का अन्तस्तत्त्व पाया जा सकता है। लेकिन उसमें मन पर बुद्धि का नियन्त्रण बराबर रहना चाहिये।

दिनांक 9-6-65

विश्व एक घर है। इसमें विविध प्राणीगण तथा विविध पदार्थ विद्यमान हैं। इन सभी को सही तौर पर भलीभांति जानना एवं उनके साथ यथार्थ वर्तन स्वरूप कर्त्तव्य-दृष्टि का पालन होना जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप में स्वतः बनता है। उस अधिकार के हस्तगत होने के पूर्व ही जन्म-जन्मान्तर को प्राप्त होना अकालमृत्यु के समान है; जो कि मानव-जीवन के लिए कत्तई योग्य नहीं है पर मानव इस रहस्य को सही माने में यथार्थ रूप से समझ ही नहीं पाता और एक दृष्टि के बचपन के जीवन को सब कुछ मानकर उसी में समाप्त हो जाता है। यह कितनी विचारणीय बात है, खासकर समझदार कहलाने वालों के लिए।

दिनांक 10-6-65

मन की तरंगें अनेक हैं। इनके बीच में स्वतत्त्व छिपा हुआ है। इस निजी तत्त्व को यदि पाना है, तो पहले मन की विभिन्न तरंगों को पहचानना अत्यावश्यक है। उसके पश्चात् आगे की गति बनती है।

दिनांक 11-6-65

प्रत्येक क्रिया का असर सारे विश्व में प्रसरित होता है। प्रतिक्षण अनन्त क्रिया—प्रतिक्रियाएँ बनती-बिगड़ती रहती हैं, अथवा न्यूनाधिक रूप में उनका असर होता रहता है। बलवती प्रक्रिया का कमजोर प्रक्रिया पर अधिक प्रभाव पड़ता है और कमजोर प्रक्रिया का बलवती क्रिया पर मामूली असर होता भी है और बिखर भी जाता है। इसका विशिष्ट विज्ञान अति गहन है।

दिनांक 12-6-65

मनुष्य के जीवन में अनेक विचार-धाराएँ प्रवाहित होने के लिये प्रादुर्भाव के रूप में व्यक्त होती हैं पर स्थायित्व को प्राप्त नहीं होतीं। क्योंकि सत्व शक्ति की पूर्णरूपेण दृढ़ता की कचावट रहती है, प्राय: प्रतिक्षण फूलझड़ी की तरंगों के समान व्यक्त होकर तिरोभाव को प्राप्त होती रहती हैं। इसी से मानव किसी भी कार्य में अधिक सफलता प्राप्त करने में प्राय: असफल रहता है।

दिनांक 13-6-65

जीवन की श्रेष्ठ कला आन्तरिक विज्ञान को सम्यक् रूप से विकसित करने में है। इसके बिना जीवन को प्राप्त करने का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि जिस शरीर में आत्मा रहे और उस शरीर से आभ्यन्तर में प्रस्फुटित चमत्कृति का अनुभूतिपूर्वक सही विज्ञान का परिचय न हो, यह बड़ी विचारणीय बात है। इस प्रकार की दशा को क्या वस्तुत: जीवन का महत्त्व समझा जाय ? एक दृष्टि से कदापि नहीं। नाममात्र के जीवन अनेक मिले और मिल भी सकते हैं पर उससे क्या ?

दिनांक 14-6-65

जीवन का सम्बन्ध केवल शरीर तक ही सीमित नहीं है। इसका सम्बन्ध न्यूनाधिक रूप से सारे संसार के साथ है।

दिनांक 15-6-65

जीवन विश्व की अनेक विभिन्न इकाइयों में से एक है। इसके अन्दर वे समग्र तत्त्व न्यूनाधिक रूप से बीज रूप में विद्यमान हैं। उन सभी तत्त्वों का विकास भी किया जा सकता है और शरीर के अतिरिक्त अन्य भौतिक साधन के विना विश्व की हलचल का ज्ञान हो भी सकता है। अपने अस्तित्व को स्वतन्त्र रूप में कायम रखते हुए विश्वस्थ सम्बन्धों को स्वच्छ भी रखा जा सकता है।

दिनांक 16-6-65

वर्तमान जीवन में अन्य अनेक संस्कार प्रविष्ट हो चुके हैं और दिन-प्रतिदिन नये-नये विषय के संस्कारों का प्रवाह आ रहा है। उन्हीं संस्कारों में स्वशक्ति उलझ रही है। उससे छुटकारा पाना अति कठिन बन रहा है। छुटकारे का यह तात्पर्य नहीं कि उनको त्याग दें। त्यागना चाहें तो भी त्याग नहीं सकते। भूलना चाहें तो भूल नहीं पाते। छुटकारा पाने का मतलब उनके प्रति जो आकर्षण है, उसका परित्याग यानि वास्तविक वस्तु का आकर्षण पैदा होने पर उनका आकर्षण धूमिल पड़ जाता है। वह स्थिति आ जाती है तो छुटकारा पाना सहज बन जाता है।

दिनांक 17-6-65

संस्कारों को वस्तुतः संस्कार के रूप में समझने की तथा स्वयं को सही माने में समझने की क्षमता जिसमें है, वही नित्य तथा मूल रूप में शाश्वत तत्त्व है। वह शाश्वत तत्त्व शून्य नहीं, वस्तुस्वरूप है। संस्कार का आधारस्वरूप तत्त्व अशाश्वत यानि नष्ट हो जाता है। उसको बिखेरना चेतनाशक्ति का काम है।

दिनांक 18-6-65

जिसमें संस्कार ग्रहण की योग्यता है, उसी में सभी तरह के संस्कार पड़ सकते हैं। आन्तरिक नित्य प्रकाशस्वरूपा शक्ति के सामने जिन-जिन संस्कारों के दृश्य आते रहते हैं, उन-उन संस्कारों को वह स्वयं के समझ कर चलती है तथा उन्हीं के साथ अपना घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, अतः उन संस्कारों के अनुरूप ही उस शक्ति का संकोच-विकास प्रायः बनता रहता है। नाशवान वस्तु के संस्कार के साथ तदाकार होने से उसके नाश के साथ वह भी संकोच रूप में सिकुड़ जाने से नाश समान समझी जाती है। फिर अन्य किसी उत्पन्न पदार्थ के साथ उस शक्ति के तादात्म्यसम्बन्ध स्थापन के जरिये विकास प्राप्त होते रहने की प्रक्रिया अनादि से चली आ रही है, इससे वास्तविक दशा की ओर नहीं पहुँचा जा रहा है। अतः अविनाशी सदा सत्य समग्र विषयों के तथा स्वयं के ज्ञान-विज्ञान की अवस्था में अवलोकन करने वाले तत्त्व के संस्कार डालने की नितान्त आवश्यकता है।

दिनांक 19-6-65

स्व-पर प्रकाशस्वरूप श्रेष्ठ तत्त्व के चमक की स्थिति संस्कार के आधारस्वरूप तत्त्व पर आ जाय तो अन्य संस्कार अवस्था धूमिल बन जाती है और उसका अस्तित्व नहींवत् बन जाता है। तब समग्र जीवन की दशा अलौकिकता के रूप में परिणत हो जाती है। जीवन की वास्तविक साधना का क्रम बनने के पश्चात् वह मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने के मार्ग पर चल पड़ा है, ऐसा कहा जा सकता है।

दिनांक 20-6-65

संस्कार-केन्द्र जीवन का मुख्य माध्यम है। सम्पुट रस में इससे शक्ति प्राप्त हुआ करती है। वह सम्पुट रस का प्रवाह विभिन्न अनेक ग्लेण्डस् कोशों में प्रवाहित होकर विभिन्न रासायनिक शक्तियों में परिणत होता है, जिससे समग्र जीवन के परिनिर्माण में सहायता मिलती है।

दिनांक 21-6-65

जिस किसी भी पदार्थ पर अत्यधिक आसक्ति बन जाती है, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न चल पड़ते हैं। जहाँ जिस किसी स्थान पर वह पदार्थ उपलब्ध होने की सम्भावना हो और वह स्थान अति छोटा और न्यूनतम तथा छोटे मुँह का भी क्यों न हो, पर जितनी सिकुड़ने की अवस्था बन पाती होगी, उतनी सिकुड़न या संकोचन कर उसमें घुसकर उसके आकार में तल्लीन रहने का भरसक प्रयत्न होगा, चाहे कितना भी कष्ट हो। इंसान उस कष्ट को तथा अपने ह्रास को प्राय: भूल-सा जाता है। विशेष महसूस तक नहीं कर पाता। अधिकांशत: दिव्य शक्ति की भी विपरीत दशा के कारण यही स्थिति बना करती है।

दिनांक 26-6-65

विपरीत दशा को हटाना एवं समदशा में प्रविष्ट होना अत्यावश्यक है। इसके लिए स्वरूप-दृष्टि के चिन्तनपूर्वक नाशवान पदार्थों से अनासक्त भाव पैदा हो तो संस्कार-क्षेत्र के अन्दर विद्यमान नाशवान पदार्थों के संस्कारों से ऊपर उठकर चारों ओर दृष्टिप्रसार करने से विपरीत दशा का प्राय: अन्त आ सकने की स्थिति बना सकती है। अत: इस विषय में सतत जागृत रहा जाय।

दिनांक 28-6-65

प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ से पूर्व सही दृष्टि से यह चिन्तन किया जाय कि यह कार्य किस दृष्टिकोण से संपादन करना है। जिस अभिप्राय से संपादन करना हो, वह अभिप्राय शाश्वत दिव्य शक्ति की ओर है या नश्वर पदार्थ की तरफ। उनमें ध्यान यह रहे कि नश्वर पदार्थ निमित्तकारण के रूप में है और शाश्वत तत्त्व की दिव्य दृष्टि साध्य के रूप में है। अत: नश्वर में आसक्त नहीं बनना और शाश्वत में दुराग्रह नहीं रखना। लेकिन यथास्थान समझकर यथायोग्य दृष्टि के साथ कुशलता पूर्वक आगे बढ़ते रहना और अभिप्राय में किसी भी प्रकार की मलीनता न आने पावे, इसका सदा ध्यान रखना।

दिनांक 29-6-65

शुद्ध कर्त्तव्यदृष्टि को सामने रखकर चलते रहना, निष्ठापूर्वक जीवनकला को मद्देनजर (दृष्टिगत) रखना, विनयशीलता व सुविधि का त्याग न करते हुए निर्भयता पूर्वक मनःस्थिति को रखना, मान-अपमान आदि स्थिति का मन में विचार तक नहीं आने देना, इससे ज्ञान फल की कुछ स्थिति बनती है, अतः उपर्युक्त दशा साधना में सर्वप्रथम आनी चाहिए ।

दिनांक 30-6-65

आज विवेकानन्द आश्रम में बैठने का प्रसंग आ रहा है, इस नाम से भी प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये । जीवन की अनेक समस्याएं उलझी पड़ी हैं, उनको सुलझाए बिना मार्ग साफ नहीं बन पाता । मार्ग साफ हुए बिना जीवन की गति अवरुद्ध रहती है अर्थात् सही तरीके से गति नहीं बन पाती । सम्यक् गति के बिना कितना ही कुछ चला जाय, कितना ही सोचा जाय, कुछ भी तत्त्व-चिन्तन किया जाय, कितना ही ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन किया जाय, कराया जाय, कितने ही आश्रम खोले जायँ, दुनिया की प्रायः सभी कलाएं सीखी-सिखाई जायँ, किसी भी पार्टी का कैसा भी सदस्य बना जाय, समग्र ग्रंथों को रटकर कंठस्थ कर लिया जाय, अज्ञानावस्था का कितना भी तप तपा जाय, कितना भी कष्ट उठाया जाय, योगसाधना की कितनी भी प्रक्रिया की जाय, पर इस प्रकार के सभी कार्य अरण्य-रूदन के तुल्य रहते हैं । अतः सम्यग् गति प्राप्त करने के लिए विवेक जागृत करने की नितान्त आवश्यकता है । उसमें नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इस लोक तथा पर लोक सम्बन्धी भौतिक भोग साधन सामग्री से ममत्व को मूर्च्छित कर सत्-चित् तथा आनन्दघनरूप दिव्य शक्तिसमूह का जो स्वरूप है वही एकमात्र प्राप्तव्य है । उसी दशा को प्राप्त करने के लिये, उसी के अनुरूप साधन-सामग्री का अवलोकन एवं उसके अनुसार दिनचर्या का भलीभांति निर्धारण रूप विवेक सबसे पहले होना चाहिए । इससे सभी समस्याएं व उलझनें सहजभाव से सुलझाई जा सकती हैं । उसके पश्चात् आगे की श्रेणी सुनिश्चित रूप से अमल में लाने का उपाय सोचा जाय, ताकि जीवन की सुगति आनन्द-पूर्वक बनाई जा सके । इसके लिए समग्र रूप से सम्यग्श्रम की आवश्यकता है, जिसको कि सही माने में आश्रम कहा जा सकता है ।

दिनांक 1-7-65

मनुष्य शरीर में अनेक तत्त्व प्रवेश करते हैं। वे यथावसर यथा समय पुनः मार्ग पाकर या मार्ग बनाकर निकलते रहते हैं।

अन्दर के विकारों से प्रभावित वचनवर्गणाओं के पुद्गल भी प्राणीवर्ग के मस्तिष्क में, संस्कार-केन्द्र में प्रविष्ट होकर यथासमय विकास के साथ ग्लेण्ड्स् कोषों में रासायनिक पुट लगने वाले तत्त्वों में परिणित होते हुए अपने सजातीय तत्त्वों को तैयार कर शरीर में यथा-स्थान यथावकाश अपना-अपना कार्य करते हुए शरीर से निकलते हैं।

दिनांक 14-7-65

परमाणुपिण्ड का बहुत लम्बे समय का स्थायित्व प्रायः नहीं बना करता, उनमें न्यूनाधिकता आती ही रहती है। उनसे तो जिस समय जो कार्य करना हो, वह करके उनको छोड़ देना चाहिये। वे या उनकी जाति के तथा अन्य विभिन्न जाति के अनन्तानन्त परमाणु-पिण्ड यत्र-तत्र-सर्वत्र पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। अतः कभी भी कहीं से भी जिस तरह के भी स्कन्धों की आवश्यकता महसूस हो, वे स्कन्ध तत्क्षण हर समय ग्रहण किये जा सकते हैं। बशर्ते कि इस तरीके से ग्रहण करने की सही कला आ जाय।

दिनांक 19-7-65

आज प्रातःकाल एक बच्ची जोर से रो रही थी, मानो वह असहाय हो। उसको इस बात का ज्ञान नहीं कि मेरी माता ऊपर दर्शन करने गई है, अभी आ जायेंगी। मैं धैर्य रखूं। यही दशा अधिकांश प्राणियों की है। वे भी किसी सहायक के चल बसने पर रोते हैं। उनको इस बात का ज्ञान नहीं कि मैं सृष्टि के मध्य में बैठा हूँ। चिन्ता किस बात की! अमुक व्यक्ति गया, तो क्या हुआ! उसकी आत्मा का स्वरूप तो कहीं-न-कहीं विद्यमान है। समय पर पुनः मिल सकता है। मुझे धैर्य रखना चाहिये।

दिनांक 23-7-65

इस भूमण्डल पर जैसा मेरा अस्तित्व है, वैसा सभी का अस्तित्व स्वीकार्य है, अतः उनके साथ हर समय सद्व्यवहार रखना चाहिए। भय करने-कराने सरीखी कोई बात नहीं है। निर्भयतापूर्वक धैर्य के साथ शक्ति-निर्माण में सदा यत्नवान होना चाहिये। जो कुछ प्राप्त है, वह अनायास मिला हुआ है, उसका सदुपयोग करने का एक तरीका सही शक्ति-निर्माण का है। उसमें कर्त्तव्य-निष्ठापूर्वक सदा मस्त होकर लगे रहना चाहिए, ताकि वस्तुतः सही जीवन की स्थिति प्राप्त करने के साथ-ही-साथ आत्मनिर्भर बन सके और अनायास को स्वायत्त कर सके।

दिनांक 25-7-65

दृढ़ संकल्प के साथ जीवन का मोड़ किया जा सकता है। यह जीवन मोड़ की मुख्य चाबी है, अन्य सब साधन दृढ़संकल्प पूर्वक ही पुष्ट बनने के साथ कार्य-सम्पादन करने में समर्थ हो सकते हैं।

दिनांक 26-7-65

ईर्ष्या पतन का भयंकर रास्ता है। यह अमूल्य जीवन का घुन है। यह वह जहर है जो कि जीवन को श्मशान तक शीघ्र ही पहुँचा देता है। यह ईर्ष्या एक जीवन को नहीं, अनेक जीवन को नष्ट करती है। अन्य को कम, स्वयं (ईर्ष्या करनेवाले) को अधिक नष्ट करती है। अन्य यदि अपने मन में ईर्ष्या नहीं लाता है, तो उसका विशेष कुछ नहीं बिगड़ता। यत्किंचित् तद्ग्राह्यभाग पर असर होकर यथावस्थित बन जाता है। अतः विचक्षण मानव को ईर्ष्या के चक्कर में कभी भूल कर नहीं आना चाहिए। क्योंकि इससे एक तरह का विष निर्मित होता है, जो कि किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है। अतः सावधान रहना चाहिए।

दिनांक 1-8-65

मानव तू विचार तो कर कि तुम्हारा अस्तित्व यहाँ किसलिए है ? आपस में लड़ने के लिए ? सहज प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करने के लिए ? या पशु-जीवन की तरह जीवन विताने के लिये ? नहीं ! इन कामों के लिए तुम्हारा अस्तित्व नहीं है । तुम्हारा अस्तित्व तो विश्व में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी अदा करने के लिए है, यह बोध तुम्हें होना चाहिए । तुझे अपने जीवन को विश्व के अन्दर रहने वाले गुह्य तत्त्व को व्यक्त कर विश्व-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाने के लिए लगाना चाहिए । स्व कितना रहस्यमय है, इसकी निरन्तर खोज करते रहना चाहिये । इन कामों में यदि जीवन का सदुपयोग बना, तो वस्तुत: जीवन के अस्तित्व की सार्थकता है अन्यथा मिट्टी के ढेले के समान यह पुतला प्राप्त हुआ और पानी की बून्दों से गलने की तरह विकारों में गलकर नष्ट हुआ। हाथ कुछ नहीं आया, व्यर्थ ही……………!

दिनांक 2-8-65

प्रत्येक कार्य में धैर्य, शांति और विवेक की नितान्त आवश्यकता रहती है । इनके विना कार्य की परिपक्वता नहीं बन पाती और परिपक्वता के विना उस कार्य से सही माने में तुष्टि नहीं होती ।

तुष्टि के अभाव में विषय-तृष्णा 'दिन दूनी रात चौगुनी' की कहावत के अनुसार निरन्तर, बढ़ती रहती है, जिससे मन की चंचलता अधिक वेगवती बनती है और अशान्ति सीमा को लांघने लगती है, परिणामत: आसपास का वायुमण्डल भी दूषित बन जाता है एवं परम्परा से इसकी दुर्गन्ध दूर तक फैल जाती है ।

अत: प्रत्येक विचक्षण पुरुष को किसी भी कार्य में हाथ डालने के पूर्व अपनी भूमिका का भली-भांति अवलोकन कर लेना चाहिये । यदि स्वयं की भूमिका में किसी बात की कमी महसूस हो तो कुछ समय उसकी पूर्ति में लगाना चाहिए । फिर जब यह अनुभव हो जाय कि मेरी भूमिका अमुक कार्य करने के योग्य सक्षम बन गई है, तो फिर उस भूमिका पर दृढ़ता पूर्वक स्थिर रहकर सम्यक् ज्ञान के साथ कार्य में हाथ डालना चाहिये ।

दिनांक 3-8-65

मेरा प्रत्येक अमूल्य क्षण जा रहा है । इन क्षणों को सार्थक करना मेरे हाथ की बात है । मैं व्यर्थ की बातों में जितनी अपनी शक्तियों को लगाता हूँ, इतना ही मैं अपने आप में शक्तिहीन होता हूँ और मेरा प्रत्येक क्षण व्यर्थ जाता है । इससे न केवल मैं अपने आप की ही शक्ति का अपव्यय करता हूँ, बल्कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व का भी अहित करता हूँ । इस तरीके से एक दृष्टि से मैं प्राणीमात्र का अकल्याण ही करता हूँ । अतः मुझे पूरी सावधानी रखने की आवश्यकता है, ताकि मैं स्व-पर के कल्याण की कड़ी से कुछ शक्ति अदा कर सकूं ।

दिनांक 4-8-65

छलना भयंकर पाप है । इससे सभी तरह की हानियां हैं । आन्तरिक जीवन पर पर्दा पड़ता है, विकास-मार्ग समाप्त होता है, विकसित जीवन की कड़ियां कुण्ठित होकर दब जाती हैं, मलीनता का साम्राज्य छा जाता है, मानव मानव के रूप में न रहकर दानव व पशु के रूप में चरण रखता है ।

दिनांक 5-8-65

वर्त्तमान में मानव, शरीरस्थ साधन को भूल कर बाहर के साधनों को अधिक काम में ले रहा है। इससे एक ओर वह उन्नति का अनुभव तो अधिक कर रहा है पर दूसरी ओर अवनति हो रही है स्वयं के पास रहने वाले साधनों की। वे साधन अवरुद्ध हो रहे हैं। विकास का समुचित अवसर नहीं मिल पाने से कुण्ठित होने के साथ-ही-साथ निरर्थक अपमानित तिरस्कृत होते हुए विनष्ट हो रहे हैं। अतः उनकी ओर जब तक मानव का ध्यान नहीं जायगा, तब तक मानव का न वास्तविक विकास कहा जा सकता है और न उसका वास्तविक शान्ति की दिशा में मोड़ हो सकेगा। इसलिए उस ओर ध्यान जाना नितान्त जरूरी है। जिस रोज भी वास्तविक विकास व शान्ति की ओर मोड़ होने की स्थिति बनेगी, उस दिन से मानव आन्तरिक साधनों को मुख्य रूप से विकसित करने में लगेगा, वही दिन स्वतन्त्र स्थिति का प्रारम्भ होगा।

दिनांक 18-8-65

निजी स्वतन्त्र शक्तियों को सन्मुख करके जिस रोज मानव प्रौढ़ता पर पहुँचेगा, उस रोज से वह भौतिक यन्त्रों के बिना समग्र विश्व की वार्ता हर स्थल पर सुन सकेगा, प्रत्येक स्थान से प्रत्येक वस्तु को यथाशक्ति जान व देख सकेगा। वैसे ही सुगन्ध व दुर्गन्ध को सूंघ सकेगा तथा प्रत्येक वस्तु का रसास्वादन सम्बन्धी विज्ञान एवं स्पर्श तथा मानस सम्बन्धी विविध विज्ञान प्राप्त कर सकेगा।

दिनांक 19-8-65

वास्तविक जीवन-कला आने से समग्र पदार्थों का समग्र विषय उसको सहज उपलब्ध हो सकता है। उस वक्त उस पुरुष को न कहीं जाना पड़ेगा, न किसी से सवाद करने की आवश्यकता रहेगी, न अधिक संग्रह की जरूरत, न एक दूसरे को दबाने की। उसमें जो भी होगा वह अल्प प्रयास से पवित्रता के साथ होगा।

दिनांक 22-8-65

नियत समय पर जो कार्य बनता है और उसमें जो कला की शक्ति संपादित होती है, वह अनियत समय पर कार्य करने में नहीं। अतः प्रत्येक विकासशील प्राणी को अपना नियत समय निर्धारित करके तन्मयतापूर्वक सम्यक् रीति से कार्य-विधि का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। कार्यों को मुख्यतः दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है—आभ्यन्तर और बाह्य।

आभ्यन्तर कार्य-व्यवस्था पर ही बाह्य कार्य का विशेष मूल्यांकन किया जा सकता है। उसके बिना बाह्य प्रक्रिया विशेष महत्त्व नहीं रखती। अतः आन्तरिक कार्य-सम्पादन की विधिवत् व्यवस्था के साथ नियत समय निर्धारण एवं उस समय विकसित होने वाले विचार-प्रवाह का सम्यक् अवलोकन तथा वर्गीकरण के साथ सूक्ष्म निरीक्षण होना भी नितान्त आवश्यक है, ताकि किस विचार का कितना महत्त्व एवं कितनी शक्ति कहाँ तक प्रसारित की जा सकती है, उसका सही ज्ञान हो सके।

दिनांक 1-9 65

गहरी पर्त के हस्ता-

विचार-धाराओं का प्रवाह यदि सही माने में समझ लिया जाय, तो उनकी विभिन्न अवस्थाएं ज्ञात हो सकती हैं और वह प्रवाह कहाँ से किस उद्देश्य से प्रवाहित हुआ, कहाँ किन से टकराया, किस प्रकार उस प्रवाह की स्थिति बिखरी, उसमें मौलिक अंश कितना रह पाया, वह अब कितना अन्य पर असर कर पायेगा, कितनी गति से उस व्यक्ति तक पहुँचेगा, अन्य वायुमंडल को कितना दूषित कर पायेगा, जिस व्यक्ति से वह प्रवाहित हुआ, उस व्यक्ति की शक्ति से क्या-क्या परिवर्तन आ पावेगा, इसका भी पता चल सकता है।

किस जाति के किन-किन विचारों से उसका संसर्ग हुआ और किन-किन विचार-प्रवाहों के साथ उसका संघर्ष हो सकता है, उसके बाद उनमें क्या परिवर्तन आ सकेंगे, उनकी मूल जड़ क्या है, कैसे उनमें ताकत आ सकती है? आदि अनेक तरह की अवस्थाओं का ज्ञान होने पर इन्सान की स्थिति कुछ और ही बन जाती है। उसमें स्वयं वह ताकत आ सकती है कि बिना किसी तार या मशीन, आदि भौतिक माध्यम के काफी दूर तक का विज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार की प्रक्रियाओं से यदि आगे बढ़ने की शक्ति प्राप्त की जाय तो मनुष्य स्वतन्त्र स्वावलम्बिता के साथ मनुष्यपन को प्राप्त करता हुआ अमृत की ओर बढ़ सकता है और वर्तमान की अशान्ति का किसी हद तक अन्त आ सकता है।

दिनांक 2-9-65

जब तक अन्य कार्यों में मन उलझा रहता है, तब तक विचार-प्रवाह को समझने की ओर मुड़ना मुश्किल होता है। अपूर्ण व्यक्ति के उपयोग की अवस्था एक समय में एक ही विषय की ओर होगी। जिस विषय की तरफ अधिक आकर्षण होगा, उसी विषय की तरफ उसका ध्यान अधिक जायेगा और उस तरफ से ध्यान हटे बिना अन्य विषय में प्रवेश नहीं बन पायेगा।

जिसमें आकर्षण बना है, उसके वास्तविक स्वरूप को जानने पर उसके गुण-दोष का भान हो सकता है। गुण-दोष का भान होने पर उसमें आकर्षण की शक्ति कमजोर बनती है और जिसकी ओर मुड़ना चाहता है उसके महत्त्व का भली-भांति ज्ञान होने पर उधर आकर्षण पैदा हो सकता है और वैसी स्थिति में उस ओर मुड़ने में तथा उसके स्वरूप को समझने में अधिक प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

दिनांक 5-9-65

बिखरे विचारों को पहले दृश्यमान पदार्थों पर केन्द्रीभूत करना चाहिये। वे केन्द्रीभूत तब बन पायेंगे, जब चरम-चक्षु से अदृश्यमान पदार्थों पर ध्यान लगाया जाय। उनकी वास्तविक स्थिति समझने के लिए अति तीक्ष्ण बुद्धि का अवलम्बन लिया जाय तथा तदनुरूप जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का मोड़ बने एवं सही लक्ष्य की स्थिरता के साथ दृढ़ संकल्पपूर्वक कार्य में तल्लीन बना जाय।

दिनांक 8-9-65

विचारों के प्रवाह को प्रभावित करने के लिए सर्वथा निर्भयवृत्ति के साथ दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है। लेकिन निर्भयवृत्ति को प्राप्त करने के लिए भय के वस्तुस्वरूप को समझना नितान्त आवश्यक है। वस्तुतः भय क्या है? जानकारी का अभाव या शक्ति की कमी। इन दोनों विकल्पों में भय-स्वरूप के विज्ञान का सम्यग्-अवबोध पहला कारण है। वैसे ही स्व वीर्य-शक्ति की कमजोरी को विकसित करने में योग्य पुरुषार्थ के स्वरूप को सही माने में नहीं समझना द्वितीय मुख्य कारण है। वैसे ही दृढ़ संकल्प के विषय में समझना चाहिये।

उपर्युक्त संकेत के अनुसार विविध विज्ञान पूर्वक दृढ़ संकल्प की स्थिति निरन्तर दीर्घकाल तक यदि सत्कार पूर्वक बन जाती है, तो उससे सुदूर तक के विचार-प्रवाह को भली-भांति प्रभावित किया जा सकता है।

प्राणी को प्रत्येक परिस्थिति कुछ-न-कुछ प्रभावित करती है। क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति अपने अनुरूप वायुमण्डल बनाती रहती है और उसका असर पड़े बिना नहीं रहता। वह चाहे शुभ हो या अशुभ हो। हाँ, यह बात दूसरी है कि उसका प्रभाव महसूस हो या न हो, क्योंकि……प्रभाव को बीच में तोड़ने वाले तत्त्व भी न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं।

दिनांक 10-9-65

सृष्टि में अनेक प्रकार की प्रक्रियाएं चला करती हैं। उनमें विभिन्न रूप एवं विभिन्न शक्ति काम करती हैं। उनमें एक शक्ति के साथ दूसरी शक्ति के बलाबल का विषय भी रहता है। जिस शक्ति का अपेक्षाकृत अधिक प्राबल्य होगा, वह शक्ति अपने से हीन शक्ति को तोड़ने की प्रक्रिया करेगी। कमजोर शक्ति यदि शक्तिशाली शक्ति की सजातीय है, तो वह उसमें मिल जायगी और यदि विजातीय है, तो उसको बिखेर देगी, जिससे उसका प्रभाव बिखर जायगा। वह अन्य पर अन्य रूप से जायगा और उसका प्रभाव भी इतना नहीं रहेगा जिससे अन्य को मूल शक्ति से प्रभावित कर सके।

दिनांक 15-9-65

सच्ची कर्तव्यनिष्ठा के सामने भय और चिन्ता व्यर्थ है। भय और चिन्ता से शारीरिक एवं मानसिक हानियां अधिक हुआ करती हैं। इससे-जीवन निर्माण में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं पर यदि मानव उन बाधाओं में उलझ गया, तो सर्जनशक्ति का उपयोग उसी में लग सकता है। वैसी स्थिति में एक दृष्टि से उस शक्ति का दुरुपयोग होगा, जो कि एक बहुत बड़ी हानि है।

दिनांक 22-9-65

वास्तविक शक्ति को केन्द्रीभूत करने के लिए शक्ति का सदुपयोग करना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना जीवन प्राप्त होना, न होना प्रायः एक-सा है। अतः प्राप्त जीवन का वस्तुतः लाभ उठा लेना बुद्धिमान मानव का परम कर्तव्य बन जाता है।

दिनांक 18-11-65

सत्प्रयत्न निरन्तर चालू रहना चाहिए। एक रोज अवश्य सफलता मिलेगी। इसमें जरा भी संशय को अवकाश नहीं है। हाँ, यह अन्तर निरीक्षण होते रहना चाहिए कि निरंतर चलने वाले मेरे सत्प्रयत्न वस्तुतः सत् हैं कि नहीं। कहीं मैं बुद्धि तक ही तो सीमित नहीं हूँ। यानि अक्षर-ज्ञानमय कलात्मक बुद्धि को ही तो सब कुछ नहीं समझ रहा हूँ। स्व-परप्रकाशात्मक स्वयं की अनुभूति को छूकर भी कार्य कर रहा हूँ या नहीं? इस स्थिति का भी समय-समय पर भली-भांति अन्तर अवलोकन होते रहना चाहिए। इस प्रकार की अवलोकनपूर्ण निष्ठा के साथ यदि सत्प्रयत्न चालू रहे, तो फल अवश्यंभावी है।

दिनांक 19-11-65

निरन्तर एक ही प्रयत्न करते रहने से मन के ऊब जाने की स्थिति बन सकती है और यह भी महसूस हो सकता है कि इस कार्य के करते रहने में अभी तक सफलता नहीं मिली। पर इसमें ध्यान इस बात का रखने की आवश्यकता है कि सत्प्रयत्न में उत्साह बढ़ता रहे। इसके लिए समय में फेर-फार करना हो, किया जा सकता है। यदि निरन्तर एक समान सत्प्रयत्न में मन के ऊब जाने की स्थिति महसूस होने लगे तो सजातीय अन्य प्रयत्न किये जा सकते हैं। बशर्ते कि निर्धारित लक्ष्य सदा सन्मुख रहे, यानि उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही अन्य सजातीय प्रयत्न हों। इस प्रकार प्रत्येक प्रयत्न में उत्साह का बने रहना, बढ़ते रहना नितान्त आवश्यक है। उसमें सफलता शीघ्र संभवित रहती है।

दिनांक 20-11-65

किसी भी तत्त्व का परीक्षण उसके कुछ स्वाभाविक भाग से किया जा सकता है। सारे तत्त्व को मथने की आवश्यकता नहीं रहती। हाँ, उस तत्त्व में यदि कोई विजातीय तत्त्व हो, तो उसका निखालस वर्गीकरण पहले हो जाना आवश्यक है। यही बात व्यक्ति के व्यक्तित्व में, व्यक्ति की वृत्तियों में, प्रवृत्तियों में, मन की स्थितियों में, स्वभाव में, आत्मिक स्वरूप में और सृष्टि की प्रक्रिया में भी समझना चाहिए। पर वर्गीकरण व परीक्षण तथा उसका सही तरीके के साथ निरीक्षण करने में पूरी-पूरी सावधानी की नितान्त आवश्यकता है।

दिनांक 21-11-65

द्रव्यमन और शरीर का सम्बन्ध एक दृष्टि से अवयव-अवयवी-भाव वाला कहा जा सकता है। यह शरीरस्थ पाँच इन्द्रियों और आत्मा के बीच का एक माध्यम है। इस माध्यम से विशेष रूप से तथा तीव्र-मन्दादिभाव से कर्मों का संचय और विनिवृत्ति प्रायः हुआ करती है, पर भावमन के बिना यह कुछ भी करने में समर्थ नहीं रहता। यानि व्यवस्थित एवं कलापूर्ण स्थिति नहीं बन पाती। अतः भावमन, जो कि आत्मा की शक्तिरूप है, से सब प्रक्रियाओं का संचालन बनता है।

दिनांक 22-11-65

जीवन-कला केवल शारीरिक संस्कारमात्र ही नहीं है और न वह मानसिक व वाचिक संस्कार तक ही सीमित है। उसकी वास्तविक स्थिति तो स्व-पर प्रकाशस्वरूप आत्मिक शक्ति के यथास्थान परिमार्जन में सन्निहित है। अतः जीवन-कला का यथार्थ ज्ञान के साथ विकास करना तथा उसी के अनुरूप प्रत्येक कार्य में उसके पुट का लगते रहना नितांत आवश्यक है।

दिनांक 29-11-65

विश्व की समस्त कलाओं में सर्वश्रेष्ठ वास्तविक कला है जीवन-कला। इसी कला का पुट न्यूनाधिक रूप में अन्य कलाओं में आता है। तभी उनमें कुछ चमक आती है और निर्मिति भी व्यवस्थित बन पाती है। अतः सही जीवन-कला को प्राप्त करने के लिए प्रतिक्षण सजग रहने की नितान्त आवश्यकता है। लेकिन अधिकांश प्राणी-वर्ग का तो प्रायः ध्यान नहीं-सा है। इसीलिए वे प्रायः दुःखानुभूति में झुलस रहे हैं। उनको शांति के तुषार-बिन्दु को आशा तक महसूस नहीं हो पाती। उनकी यह कितनी दयनीय दशा है! अन्य प्राणी तो दूर रहे। अक्षरी ज्ञान के शिक्षित कहे जाने वाले महानुभावों तक को इसकी ओर मुड़ने की फुर्सत तक नहीं मिल पाती। प्रायः अन्य प्राणियों के ही समान अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त करने में ये भी तत्पर-से दृष्टिगत होते हैं।

दिनांक 20-12-65

वास्तविक जीवन-कला प्राप्त करने के लिए सही दिशा में सतत चिन्तन की नितान्त आवश्यकता रहती है। उसके पश्चात् स्वानुभूति की दिव्य शक्ति जागृत की जाय, तभी उस से सही जीवन-कला की चाभी प्राप्त की जा सकती है। इन प्रक्रियाओं में विवेक-शक्ति के पुट का रहना नितान्त जरूरी है। इसके बिना प्रत्येक अवस्था में मार्ग के अन्वेषण, निरीक्षण, परीक्षण की सही स्थिति नहीं बन पाती। क्योंकि वैचारिक जगत में विभिन्न रंग-बिरंगी विचार-धाराएँ, नाना प्रकार के विचित्र चित्रपटलों की आंधियों के तूफान सघन रूप में इधर से उधर प्रवाहित होते रहते हैं एवं उन्हीं के बीच विकारों का तीव्रतम रूप आप्लावित होता हुआ स्वानुभूति को लुप्त करने का भरसक प्रयत्न करता है। इन स्थितियों को विच्छिन्न करने का माध्यम विवेक है।

दिनांक 22-12-65

मनुष्य सोचता है, अमुक कार्य कठिन है। करना शक्य नहीं। अमुक-अमुक अनेक विकट परिस्थितियां सामने मुँह फाड़े खड़ी हैं। विघ्नों के बवण्डरों ने चारों ओर से जीवन को घेर रखा है। अन्य का सहयोग भी नहीं मिल पा रहा है। ऐसी विकट विषमतम परिस्थिति में अमुक कार्य का होना असम्भव है। इस प्रकार की भावना मानव के लिए कत्तई उचित नहीं। क्योंकि वास्तविक जीवन-कला में ऐसी भावना को कोई स्थान नहीं देना चाहिए। जीवन-कला का वास्तविक विज्ञाता ऐसी भावनाओं को जरा भी महत्त्व नहीं दे सकता। उसमें तो सदा हर परिस्थिति में स्वयं के लक्ष्यानुरूप असंभव कार्य को भी कर लेने का सम्यक् सुदृढ़ उदात्त भावनाओं से प्राबल्य अपूर्व उत्साह प्रवाहित होता है।

जीवन की सही कला की स्थिति पर पहुँचने के लिए आन्तरिक सभी तरह के ज्ञान-विज्ञान का सच्चा अनुभव होने की आवश्यकता है। इसके लिए पाँच इन्द्रिय और मन की गतिविधि को भलीभाँति समझा जाय, उसके पश्चात् क्रमिक रूप में यथाशक्ति इन इन्द्रियों सम्बन्धी विज्ञान को भलीभांति परखते हुए उन पर योग्य नियन्त्रण की शक्ति प्रबल बनाई जाय, ताकि उसके माध्यम से आन्तरिक शक्ति का उद्घाटन किया जा सके।

दिनांक 24-12-65

सूर्य की किरणें प्रखर प्रकाश के साथ चारों ओर फैलती हैं। उन रश्मियों के अति तीव्र होने से सूर्य को प्रत्येक प्राणी देख नहीं पाता। लेकिन सूर्य की किरणें जिस भी माध्यम से प्राणी तक पहुँचती हैं। प्राणी उस एकाध किरण को ही सब कुछ मान लेता है। उस माध्यम का जैसा भी रंग होगा, उसी रंग से रंजित होकर किरणें सामने आयेंगी। सूर्य की एकाध किरण को विभिन्न अनेक रूपों में अनेक तरीकों से ग्रहण करने के साथ-ही-साथ उन-उन रूपों को ही सब कुछ मान लेने से अथवा उन्हीं में उलझ जाने से असली सूर्य के पिण्ड को वे प्राणी ग्रहण नहीं कर पाते, क्योंकि जिन रंगीन किरणों को उन्होंने सब कुछ समझ लिया है, उनके सामने कदाचित् साक्षात सूर्य भी आ जाय फिर भी उसको वे प्रायः भलीभाँति समझ नहीं पायेंगे। वैसी ही दशा वास्तविक जीवन-कला के साथ स्वकीय आत्मिक स्वरूप को प्राणी भलीभाँति समझ नहीं पा रहा है और विभिन्न रंगीन एकाङ्गी विचारों के समूह में अधिकांश प्राणी उलझ गये हैं। अतः अनन्त सूर्य के प्रकाश को भी मात करने वाले आत्मिक शुद्ध स्वरूप को पकड़ नहीं पा रहे हैं।

दिनांक 27-12-65

मानव यत्किंचित् तुच्छ इन्द्रिय सुखों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अमूल्य जीवन को नष्ट कर रहा है। इसके विषय में कुछ भी सही रीति से सोचने का प्रयत्न नहीं कर पा रहा है। यह अवस्था बीत जाने के पश्चात् असंख्य प्रयत्न करने पर भी वर्तमान मानवजीवन की अवस्था प्राप्त करना अत्यधिक कठिन है। कौन जानता है कि यहाँ से कहाँ जाकर गिरेंगे और क्या दशा होगी? उस दशा में आज-सा भान रहेगा या नहीं। प्राप्त किये हुए चिन्तामणि को समुद्र में फेंक दें, उसको पाना तो फिर भी शक्य हो सकता है, पर इस मानव-अवस्था को व्यर्थ के कार्यों में खो देने के पश्चात् अत्यधिक पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ भी बनना कठिन है। अतः पूरी सावधानी के साथ वर्तमान मानव-अवस्था को संभाल कर इसे सही जीवन-कला प्राप्त करने में लगा देना ही मानव का मुख्य ध्येय होना चाहिये।

दिनांक 28-12-65

जीवन की सही कला को समझना कोई साधारण बात नहीं है। इस विषय में जितनी उलझनें हैं, उतनी अन्य किसी भी कार्य में नहीं हैं। दीखने की दृष्टि से वह चाहे कितनी भी जटिल क्यों न दीखती हो, फिर भी वास्तविक जीवन-कला की अपेक्षा कुछ भी जटिल नहीं है। जीवन-कला को प्राप्त करने में बाहर की जटिलता प्रायः कम दृष्टिगत होती है। पर यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि आन्तरिक जीवन की समस्या अत्यधिक विकट और दुरूह होती है। उसको हल करना सरल नहीं है। अनेकानेक पहलुओं से चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के साथ स्वानुभूति को जागृत करने एवं सर्वांगीण सब दृष्टिकोणों को विवेक के साथ संतुलित करते हुए सत्प्रयास करने पर ही कुछ सही मार्ग बन सकता है। उसके पश्चात् पारदर्शिता की स्थिति आ जाने पर कठिनता कम जो जाती है तथा सच्ची जीवन-कला की क्रिया में तीव्रता आ जाती है। निरन्तर गतिशील रहे, तो मनुष्य स्वगन्तव्यस्थान पर पहुँच सकता है।

दिनांक 29-12-65

जिन भी पदार्थों का ज्ञान मानव करता है, उस ज्ञान की सीमा उस पदार्थ की तह तक पहुँच सकती है और उसकी तह तक पहुँचने पर वहाँ ज्ञेय और ज्ञेय-सम्बन्धी ज्ञान के अतिरिक्त विशेष किस वस्तु की उपलब्धि हो सकती है, यह देखने की आवश्यकता है। जिन पदार्थों के अन्तःस्थल में पहुँचने पर भी उन पदार्थों की तथा उन पदार्थों-सम्बन्धी ज्ञान के अतिरिक्त अपूर्व अजस्र स्रोत की प्राप्ति न हो सकती हो, तो उन पदार्थों के पीछे अधिक शक्ति व्यय करने से शक्ति का दुरुपयोग हो सकता है और अन्ततः पश्चाताप। जिन पदार्थों के अन्त स्थल के आस-पास पहुँचते ही अपूर्व आनन्द के हिलोरे आने लगते हों, जिनका दिव्य अजस्र प्रवाह अबाधगति से प्रवाहित होकर अमाप्य अजय शक्ति का सृजन करता हुआ सर्वशक्तिसम्पन्नता रूप में परिणत होता हो, उसी की ओर मुख्य ध्यान रखते हुए शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए, जिससे कि मानव, जीवन की सही कला की ओर मुड़ सके।

सच्ची समझ के साथ जिस वस्तु या अवस्था की ओर ध्यान आकर्षित हो, उसको ही सम्मुख रखकर प्रयत्न चालू कर दिया जाय। वही स्थिति निरन्तर, हर अवस्था में चमकती रहे, अन्य तमाम बातें गौण बन जायें। फिर चाहे कितनी ही आँधी या तूफान क्यों न आयें, उनका जरा भी असर वास्तविक स्थिति पर न हो पाये, इस बात का अवलोकन चलता रहे, तो व्यक्ति अवश्य सफलता की स्थिति में बढ़ेगा और उसे अन्यान्य सभी समस्याओं का हल भी करने में शक्ति प्राप्त होगी। इस विषय में संशय को अवकाश नहीं रह पायेगा।

दिनांक 30-12-65

श्रेष्ठ जीवन की प्रतिज्ञा श्रेष्ठतर हुआ करती है। उसका व्यापक एवं विशाल जगत-कल्याणकारी दृष्टिकोण बनता है, उससे छोटे-से-छोटे प्राणी को आत्मीय अनुभूति के साथ देखने की चेष्टा होती है। वह प्रत्येक कार्य में सही स्थिति का अवलोकन कर प्रवृत्ति करता है, उस में अरुचि व लापरवाही न बन पावेगी। उसकी हृदयतन्त्री प्राणीमात्र के कल्याणार्थ मक्खन से भी कोमल और अशुभ संकल्प प्रवेश न कर पाये, इसके लिये वज्र से भी कठोर हुआ करती है। उसकी चिन्तन-शक्ति विलक्षण तलस्पर्शी तथा पारदर्शी होती है। वचन में अन्तर् का सत्व प्रवाहित होता है और वह अन्य के अन्तःकरण को छू जाता है। स्वयं के लिए कठोर आचरण एवं अन्य के साथ मृदुल आचरण एक विशिष्ट वायुमण्डल का निर्माण करता है। उसकी कृति चमत्कृति से ओत-प्रोत हो जाया करती है।

दिनांक 1-1-66

अन्तरात्म की समस्या अति ही जटिल है। मनुष्य के सामने इससे बढ़कर कोई प्रश्न नहीं बन सकता। क्योंकि अनेक तरह के चित्र मन में चक्कर काटते रहते हैं। उनको रोकना और अन्दर में प्रवेश करना एक वज्र की चट्टान को लकड़ी से तोड़कर गुफा में प्रवेश करने के समान है अर्थात् लकड़ी से चट्टान नहीं टूट सकती। उसी तरह ऊपर-ऊपर के हल्के प्रयत्नों से कुछ नहीं हो पाता। पर शिला को कला से हटाया जा सकता है। उसी तरह कलापूर्ण जीवन से अन्तःस्थल पर पहुँचा जा सकता है।

दिनांक 7-1-66

आज का दिन बड़ा ही महत्त्व का है। इस दिवस के आते ही जीवन की प्रसुप्त चेतना जागृत हो उठती है और स्फुरण होती है कि उस महा-मानव की तरह जीवन में क्रान्ति आये, जिसने विभिन्न अति विकट परिस्थितियों में भी शान्त क्रान्ति का अमोघ घोष किया था, जीव वय की दृष्टि से वृद्ध पर आचार और विचार की दृष्टि से युवा थे। भौतिक विद्या के चिकित्सकों की भौतिक दृष्टि से वे रुग्ण थे, लेकिन आध्या-त्मिक दृष्टि से वे स्वस्थ थे। मान-सम्मान एव पदवियों को जिन्होंने पीठ पीछे रखकर निर्ग्रन्थ श्रमणसंस्कृति को एवं कर्त्तव्यनिष्ठा को सम्मुख रखा था। वे संयमसाधना के वीर एवं समाधिसाधना के धीर थे। वे क्षमा के सागर और शान्ति के भण्डार थे। उनका भौतिक पिण्ड माघ कृष्णा द्वितीय को दुनिया की आँखों से लुप्त हुआ और आध्यात्मिक ज्योतिपूँज निर्ग्रन्थ श्रमणसंस्कृति के नभ-मण्डल में प्रसृत हुआ। संसार तत्काल पूरा विदित नहीं कर पाया पर भविष्य में आलोक-स्मृति पायेगा। उस महामानव क्रान्त द्रष्टा आचार्यप्रवर का आज पुण्य स्मृतिदिवस है। अतः जीवन में जागृति लावें।*

दिनांक 8-1-66

*शान्त क्रांति के जन्मदाता आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. के पुण्य स्मृति-दिवस पर।

शरीर के अन्दर रहने वाला प्रत्येक अवयव अपने-अपने स्थान पर रहता हुआ किस खूबी से अपना कार्य संपादन करता है। केन्द्रीय स्थान से जिस भी बात की आज्ञा प्राप्त होगी, उसके अनुसार वह अवयव निरन्तर अपनी गति से अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है, उसको कोई देखे या नहीं देखे। कोई उसकी तारीफ करे या निन्दा। वह अवयव इन बातों पर जरा भी ध्यान न देकर प्राप्त आज्ञा को कार्य-रूप में परिणत करता रहेगा। निन्दा या स्तुति का असर यदि केन्द्रीय स्थान पर हुआ, तो उस असर की झाँई के साथ आज्ञा अवयव के पास पहुँचेगी तथा उतनी मात्रा में उसकी कार्यप्रणाली पर असर होगा। कार्य-परिणत में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन आयेगा। जरा भी विपरीत या न्यूनाधिक नहीं। अतः शरीर के प्रत्येक अवयव की इस प्रामाणिकता से भी मनुष्य को प्रामाणिकता की शिक्षा लेनी चाहिए।

दिनांक 9-1-66

जीवन की मशीनवत् गति से हाथ में कुछ भी नहीं रह पायेगा। सम्यग्ज्ञान के साथ सही लक्ष्य पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए शुद्ध आचरण से जो उपलब्धि हो सकती है, वह उपलब्धि दिव्य होगी। उसमें जो सत्व प्राप्त होगा, वह श्रेष्ठ स्थिति पर पहुँचाने वाला होगा।

दिनांक 11-1-66

मानव-जीवन को कल्पवृक्ष के विशिष्ट गुणों से उपमा दी जा सकती है। कल्पवृक्ष का विशिष्ट गुण यह है कि उसके नीचे बैठकर जो भी कल्पना की जाती है, वह साकार होती है। वैसे ही जीवन की प्रक्रिया बन सकती है।

दिनांक 28-1-66

किसी भी नवीन विषय को मस्तिष्क जल्दी ग्रहण करना नहीं चाहता। लेकिन जिस विषय की अति प्रशंसा और उससे होने वाले विभिन्न लाभ एवं विविध प्रलोभनों के लगातार कथन एवं प्रश्रय-दबाव से वह ग्रहण करने की कोशिश करता है, और जब ग्रहण करने लगता है तथा जब उसकी निरन्तर वह प्रक्रिया चालू हो जाती है, तो फिर उस विषयक अभ्यस्त आदत-सी बन जाती है। फिर उसको कोई छुड़ाना चाहे, तो अति ही कठिनता जाती है। उसके लिए फिर अन्य तरह के प्रयत्न की आवश्यकता रहती है।

दिनांक 29-1-66

मस्तिष्क की अनेक गुत्थियां हैं। उनको सुलझाना भी अत्याव-श्यक है। एक भी गुत्थी को सुलझाना अति कठिन-सा लगता है। लेकिन सुलझाने की चाबी मिल जाती है, तो फिर अधिक कठिनता नहीं लगती है और वह चाबी भी जब स्वानुभव के द्वारा प्राप्त होती है, तो अन्य सभी तरह की समस्याएँ यथाशीघ्र सुलझ जाती हैं।

दिनांक 16-2-66

अधिकांश मानव स्वयं के जीवन के विषय में ऊपर-ही-ऊपर तैरा करते हैं। अन्दर में प्रवेश का उन्हें प्रायः अवकाश ही नहीं मिल पाता। क्योंकि उनके मस्तिष्क में अन्यान्य जगत सम्बन्धी वैचारिक विषयों की चट्टान-सी बनी रहती है। जब तक उसका भेद न होकर पृथक् होने की स्थिति नहीं बनती, तब तक अन्तःस्थल पर पहुँचना अति दुष्कर रहता है। लेकिन उस वैचारिक चट्टान को विच्छिन्न करने का प्रयास किया जाय, तो कुछ सफलता अवश्य मिल सकती है। बशर्ते प्रयास विधि-विज्ञान पूर्वक दृढ़संकल्प एवं आशावादिता के साथ हो।

दिनांक 25-3-66

किसी भी वास्तविक प्रयास के फल-स्वरूप मानव यदि अन्तःस्थल पर पहुँच जाता है और वहाँ की सत्वसंपन्न शक्ति को भली-भाँति पहचान लेता है, तो उसकी सब वृत्तियों में परिवर्तन आ जाता है। उसकी दृष्टि, उसका बोलना, सुनना, मनन करना आदि अन्य प्राणियों से विलक्षण होंगे। आन्तरिक सत्व-सम्पन्न व्यक्ति अमूल्य शक्ति का जनसाधारण की तरह अपव्यय नहीं होने देगा। वह उसका सत्प्रयोग भी दिव्य एवं भव्य, विशाल तथा व्यापक वास्तविक जीवन-निर्माण को सन्मुख रखकर उसके अनुपात से करेगा, जिससे समग्र जीवन उसी सत्व-संपन्न शक्ति के रूप में परिणत कर पायेगा।

दिनांक 26-3-66

बाह्य वस्तु के तथा काल्पनिक विचित्रताओं के अंकुर अन्तर् में उत्पन्न होते है। वे ही अंकुर स्व-जातीय, स्व-पोषक परिस्थिति को पाकर निरन्तर बढ़ते हैं। कच्ची अवस्था से कुछ परिपक्व स्थिति में बनते हैं। उन्हीं में अधिक परिपक्वता आती है, तब वचन में परिणत होने की योग्यता आ जाती है। उससे भी अत्यधिक गाढ़ स्थिति का निर्माण होता है, तब काया के व्यापार में व्याप्त होने की योग्यता आती है। उसमें भी अत्यधिक प्रगाढ़ता से काया में व्याप्त स्थिति में अत्यधिक तीव्रता दृष्टिगत होगी। इन सभी अवस्थाओं में आन्तरिक प्रवाह ही न्यूनाधिक रूप में काम करता रहता है। शब्दों का व्यवहार मुख्य-गौणभाव से होता है, लेकिन मन, वचन, काया में तीनों एक दूसरे के यथास्थान पूरक बनते हैं। उसी अनुपात से आन्तरिक सत्व का व्यय-अपव्यय अथवा सद्व्यय एवं सर्जन होता रहता है। अतः इस विषय के सम्यग् विज्ञान को प्राप्तकर विधि के साथ चलना सीख जाय, तो दिव्य शक्ति चमक उठती है।

दिनांक 27-3-66

यौगिक मिश्रण से कई तत्त्व निर्मित होते हैं। निर्मल स्वच्छ पानी भी विश्व का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके विना विश्व की स्थिति विकट वन जाती है। लेकिन प्राणीवर्ग इसके महत्त्व का अंकन नहीं कर पाता। इसका दुरुपयोग भी वेहद किया जाता है। निरर्थक गटर में भी उसे फेंक दिया जाता है। यह स्वभाव जिसका वन जाता है, वह अन्य भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को व्यर्थ में वरवाद करता रहता है। यह भी एक कारण है कि जिससे वह अन्त:सत्त्व पदार्थों को व्यर्थ गटर में फेंकने के समान नष्ट करता रहता है।

किसी भी व्यक्ति की उन्नति देखकर अन्तर् में जलन पैदा करना या मन में पैदा होने देना कितना निरर्थक कार्य है, इसमें आन्तरिक महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ कितनी व्यर्थ नष्ट होती हैं, इसका सूक्ष्म नरीक्षण किया जाय, तो विदित होगा कि उसने वहुत वड़ी महत्त्वपूर्ण शक्ति व्यर्थ में नष्ट कर डाली है, जिसे वह हजारों रुपया खर्च करने पर भी पुन: उसी रूप में प्राप्त नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, उसने अपने आन्तरिक पवित्र स्थान में एक तरह का विचित्र जहर भर लिया, जिससे वहाँ रही हुई अन्य शक्तियां भी जहरीली वन सकती हैं और संक्रामक रोग की तरह फैलकर अन्य स्थान के वायुमण्डल को भी दूषित कर सकती हैं। फलस्वरूप अनेक भद्रिक प्राणी इसके दुष्प्रभाव से प्रभावित होकर स्व-पर का अहित कर सकते हैं। अत: वुद्धिमान पुरुष को पूरी सावधानी रखने की आवश्यकता है।

दिनांक 29-3-66

आन्तरिक सत्व को विकृत बनानें के अनेक साधन जुट जाते हैं। उसमें माध्यम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक प्राणीवर्ग एवं दूषित वासना से वासित पदार्थ भी बन सकते हैं।

समतादर्शन से अनुप्राणित सम्यक् भावना के अतिरिक्त जितने भी विचार मानस-स्तर पर पैदा होते हैं और उससे जो भावना का रूपक बनता है, वह प्रायः विषादि कटु तत्त्वों के सदृश वायुमण्डल तैयार करता है और वह यथास्थान, यथावकाश सर्वत्र फैलता रहता है। इससे भी आन्तरिक सत्व मलिन बनता रहता है।

यही विश्व के अशान्त वातावरण की जड़ है, विषमता की जननि है, भव विषवृक्ष का बीज, दानवीय वृत्ति का उद्गम पशुवृत्ति की योनि एवं नरककुण्ड का स्रोत है। इसी के आनन्तर तथा परम्परा के फलस्वरूप भौतिक तत्त्वों में भी रसादि तथा वर्णादि में तीव्र-मन्द एवं विचित्र विभिन्न स्वभावों का तारतम्य बनता-बिगड़ता रहता है। यह एक अत्यन्त गूढ़ तथ्य, जिसको सहसा हृदयंगम करने में थोड़ी कठिनाई हो सकती है। पर तथ्य पर पहुँचे बिना वास्तविक जीवन की चाबी नहीं मिल पाती।

दिनांक 30-3-66

भय और चिन्ता को सदा-सर्वदा जीवन से निकाल ही देना चाहिए। ये जीवन के वहुत वड़े शत्रु हैं। इन्हीं से जीवन का अधिक ह्रास होता है।

इसका दूसरा पक्ष भी है जो जीवन के लिए प्रेरणादायक भी वन सकता है। वह है सही ज्ञानपूर्वक वास्तविक दिशा में चिन्तन। यह समय जितना अनुकूल है उतना अन्य समय अनुकूल हो पायगा या नहीं; उस समय फिर मुझे पश्चाताप न करना पड़े, अतः जो कुछ करना है, वह यथाशीघ्र कर लेना चाहिए, जीवननिर्माण के समय को हाथ से नहीं खोना चाहिए, आदि विषयक विचारों में भी सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन किया जाय, तो कुछ चिन्ता और भय की झलक आयेगी। लेकिन यह झलक जीवनह्रास की नहीं; जीवन-निर्माण की है। अतः इसे आवश्यक भी माना जा सकता है। पर सावधानी नहीं रखने से शत्रु रूप भय-चिन्ता का अधिक दौरा रहता है, जैसे कि अव मेरा क्या होगा? अमुक आपत्ति आ गई इसको हटाने वाला कोई साथी नहीं। अमुक ग्रह भी ऐसे ही आ गये, वे मुझे सता रहे हैं। अमुक मेरा शत्रु है। इसके द्वारा मार दिया जाऊँ या सताया जाऊँ, आदि विषयक भय के कारण प्रायः हाथ पर हस्त मस्तिष्क देकर काल्पनिक जगत में डूव जाना किसी तरह हितावह नहीं। क्योंकि यह शत्रु रूप भय और चिन्ता का परिणाम है। इन से सावधान रहना है और जीवन निर्माण करना है।

दिनांक 31-9-66

समग्र विश्व तेरा है, तू उसका है। फिर भय और चिन्ता किससे। घर में कौन शत्रु ? कोई नहीं। सभी मित्र सज्जन और स्नेही, सभी सहायक, सभी हितैषी, सभी मेरा शुभ चाहने वाले, घर में कदाचित् किसी की फटकार भी मिलती है। कभी कटु शब्द भी सुनने को मिलते हैं। मारने और त्रास देने का वायु-मण्डल भी बनता दिखाई देता है। पर क्या ये सब वस्तुतः हानिप्रद हैं ? नहीं। वे सब तेरे हितकर ही हैं। जीवन-निर्माण के लिए हैं। जो तेरी त्रुटि तुझे नहीं दिख रही है, पर तेरे लिए अहितकर है उसी के सुधार के लिए ये कह रहे हैं अतः हितैषी हैं। वैसा ही दृष्टिकोण सारे संसार के साथ बन जाय तो सब कुछ अच्छा बन जाता है। फिर संहारक, भय और चिन्ता का नामोनिशान ही न रहे। बल्कि हर स्थान पर जीवन की उज्ज्वलता ही परिलक्षित होने लगे। प्रत्येक समय उत्साह, सर्वत्र सहायक सज्जन, स्नेही के अतिरिक्त कोई दृष्टिगत ही नहीं होने पाये। वह स्थिति जिस भी आत्मा में आ पायेगी वह आत्मा इस विश्व की वास्तविक स्थिति की आत्मा होगी। उससे फिर गुह्य व अदृश्य कुछ भी नहीं रह पायेगा।

दिनांक 1-4-66

दूसरों को भय देना ही स्वयं में भय पैदा करना है और दूसरे को निर्भय बनाना, स्वयं में निर्भयता लाना होता है। भय देना वह कहलायेगा, जो अन्य प्राणी को नष्ट व पतित करने के इरादे से किया जाय। लेकिन वस्तुस्वरूप के दिग्दर्शन की दृष्टि से जो कुछ भी किया जाता है और उससे कदाचित् किसी प्राणी को भय होता हो, तो वह भय देना नहीं कहलाकर भय होना कहलायेगा। इससे वस्तुस्वरूप के दिग्दर्शन-कर्त्ता को स्वयं में हानि की स्थिति बन सकती है। क्योंकि स्वरूप प्रतिपादन की शुभदृष्टि होने से। अतः दूसरे को भय देने में तथा होने में अन्तर है। अतः दृष्टि-बिन्दु को संभालकर ही प्रवृत्ति के प्रत्येक पहलू पर सोचने की आवश्यकता है।

दिनांक 9-4-66

दिव्य शक्ति की उपलब्धि के लिए पैनी दृष्टि की नितान्त आवश्यकता है । इसके विना जीवन की सव कलाएँ अधूरी एवं अल्प विकसित रह जाती हैं तथा वास्तविक तत्त्वों का भी सही पता नहीं लग पाता, न चित्त की स्थिरता वन पाती है और न स्थायी सुख की दिशा का निर्णय वनता है। फलतः आचरण-दिशा भी सम्यक् नहीं वन पाती । उसके विना जीवन प्रायः वेकार-सा रह जाता है ।

उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए वाह्य धन, धान्य, स्त्री, परिजन, आदि के परित्याग की तो नितान्त आवश्यकता है ही । लेकिन इसी तरह क्रोध-मान-मायादिक का त्याग भी वहुत जरूरी है । उसमें प्रवृत्ति रूप क्रोधादिक का त्याग तो भूमिका के रूप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । ऐसी प्रवृत्ति का वारीकी से निरीक्षण करने के लिए सजग विवेक-प्रतिभा की आवश्यकता रहती है । लेकिन यह प्रतिभा भी एक दृष्टि से स्थूल ही कही जा सकती है । अतः इसी प्रतिभा को सब कुछ नहीं मान लेना चाहिए । ऐसे प्रतिभायुक्त आचरण की दशा तो मानो प्रथम कक्षा में प्रविष्ट होने के तुल्य है । विशिष्ट, विशिष्टतर, आदि अध्ययन तो आगे की स्थिति में होता है । अतः उसी को सब कुछ मान के निश्चिन्त वैठ जाना वहुत वड़ी भूल है ।

दिनांक 4-1-67

जैसे भाषाविज्ञान के लिए सर्वप्रथम समग्र अक्षरों का ज्ञान विभिन्न तरीके से उनकी पहचान तथा उनका क्रम-व्युत्क्रम, उच्चारण-स्थान, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, व्यंजन, स्वर, किसमें किसकी किस रूप में स्थिति, आदि का भलीभांति विज्ञान हो जाना आवश्यक है। वैसे ही मानसिक स्थिति की वृत्तियों का विज्ञान भलीभांति हो जाना आवश्यक है।

वे वृत्तियां स्थूल और सूक्ष्म होती हैं। द्रव्य और भाव की संज्ञा को भी वे धारण करती हैं। विभिन्न प्रकार से उनके प्रादुर्भाव तथा विलीनता, क्रम-व्युत्क्रम, परस्पर सम्बन्धित-असम्बन्धित, प्रत्यक्ष-परोक्ष, स्थायी, अस्थायी, संस्कारित-असंस्कारित, संकल्पी-असंकल्पी, भावुक-अभावुक, निष्ठुर-कोमल, इन दोनों से विपरीत, आदि अनेक तरह का रूप होता है, उनका चक्रव्यूह, उनमें परिवर्तन, संक्रमण तथा विनाश एवं परिवर्द्धन, परिमार्जन तथा विलग करने की कला, चक्र-व्यूह का भेदन करने का विज्ञान, विपरीत अनुभूति को सम्यक् के साथ जोड़-तोड़ करने का ज्ञान, विकारयुक्त आत्मा का निर्विकार स्थिति के साथ शुद्धादि स्थिति से विकास का सही ज्ञान होने पर आगे की अवस्था में प्रवेश का अवसर आ सकता है। अतः उपर्युक्त विषयों के सही विज्ञान की योग्यता जिस प्रतिभा-बुद्धि में आ सके, वह प्रतिभा माध्यमिक सूक्ष्म स्थिति की कही जा सकती है।

दिनांक 5-1-67

ज्ञान की अनुभूति के कुछ गहराई में पहुँचने पर प्रत्येक बाह्य एवं आभ्यन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया के आभास की झलक होने लगती है। प्रत्येक क्रिया का असर न्यूनाधिक रूप में शरीर के अन्य अवयवों पर हुआ करता है। उसका रिएक्शन (असर) भी प्रायः किसी-न-किसी रूप में बनता है। लेकिन इस का ज्ञान जनसाधारण को तो दूर, बड़े-बड़े विद्वान या साधारण योगियों को भी नहीं हो पाता। यह भी द्रव्य-मन को अधिक एकाग्र नहीं होने देने में एक कारण बनता है।

दिनांक 6-1-67

जीवन की प्रत्येक कड़ी को सुलझाना अत्यावश्यक है। वे कड़ियां सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भी हैं, और स्थूल से अति स्थूल भी। दोनों या सबका परस्पर सम्बन्ध और वह भी किसका कहाँ तक, पहले किसको किनसे विलग करना, फिर किनका किनके साथ मेल करके किस समस्या को कैसे हल करना, उसके पश्चात् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, आदि तत्वों पर पहुँचकर भी निर्लिप्त रहते हुए अभीष्ट स्थिति को प्राप्त करना, आदि विषयक विज्ञान के साथ-साथ उन कड़ियों के कार्य रूप में परिणत होने पर वस्तुस्थिति की वास्तविक दिशा का भान बन सकता है।

दिनांक 7-1-67

वृत्तियों के आकार को धारण करने वाला एक द्रव्यविशेष, जो अत्यधिक विशिष्ट द्रव्यों से बना होता है, उसका विशिष्ट एवं विशेष महत्वपूर्ण प्रवाह शरीर के उत्तमाङ्ग में विद्यमान रहता है। उससे सम्बन्धित अन्य सब द्रव्य सचेतन शरीर के अन्दर विद्यमान हैं। उसी में प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया के अंकन एवं यथास्थान प्रसारण में माध्यम होने की योग्यता रहती है।

दिनांक 8-1-67

अकनस्थल अत्यधिक सूक्ष्मतर परमाणु का बना हुआ होता है, जो कि समस्त वृत्तियों का आधार कहा जा सकता है। उसी पर समस्त वृत्तियों का अंकन बनता-बिगड़ता रहता है। पर इसके पीछे विशिष्ट शक्ति की धारा रहती है। इसके बिना वृत्तियां व उनके अंकन की स्थिति व्यवस्थित कलापूर्ण तरीके से नहीं बन पाती। वह विशिष्ट शक्ति ही समस्त वृत्तियों की एवं अंकन की निर्माता, विज्ञाता तथा स्वयं की भी विज्ञाता है। उसी से संचालन आदि की क्रिया बनती है।

दिनांक 9-1-67

इसी स्व-पर ज्ञाता शक्ति की उपस्थिति में वृत्तितत्त्व के माध्यम से यथास्थान, यथायोग्य अनेकानेक व्यवस्थित अंकन बनते हैं। उनकी अवधि भी अनेकानेक तरह की बनती रहती है। उनमें वर्त्तमान अवस्था से सम्बन्धित स्थिति में वे अंकन आविर्भाव-तिरोभाव को प्राप्त होते रहते हैं तथा दीर्घकाल की स्थिति के अंकन का दीर्घकाल की अवस्था में यथायोग्य रूप में अनुकूल अवसर पाकर आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। अतः ये अंकन प्रायः उसी अपूर्ण विकसित स्व-पर-ज्ञाता शक्ति के सहचर रहते हैं।

दिनांक 10-1-67

यद्यपि स्व-पर-विज्ञाता शक्ति अंकन एवं वृत्तियों से विजातीय स्थिति में रहती है, फिर भी कम विकसित होने या आवरक पदार्थों से दब जाने से कमजोर-सी बन जाती है। उस अवस्था में वृत्तियों व अंकन तत्त्वों की रंगीन छाया में भी आ जाती है यानि उनके रंग से रंगीन बन जाने के कारण रंगीन वृत्तियों की व अंकनों की अत्यधिक प्रचुरता बना लेती है और उसी में घुल-मिल जाने से स्वकीय स्व-पर विज्ञातत्व विपरीत दशा में मुड़ जाता है। इससे अशुभ वृत्तियों का निर्माण तथा दुःखद स्थितियों का अकन, उसी जाति का द्वन्द्व, जो कि भूमण्डल पर समय, दिशा आदि के निमित्त से आपेक्षिक सुखवृत्ति का भान तथा उन्हीं आपेक्षिक सुख-दु ख वृत्तियों के सम्मिश्रण से अनेकानेक विभिन्न विजातीय वृत्तियों के निर्माण की वृत्तियां बाह्य पदार्थों का निमित्त पाकर भी बनती हैं और आन्तरिक वृत्ति के उथल-पुथल से भी। किसी अपेक्षित सुखात्मवृत्ति में रागात्मवृत्ति का प्रदुर्भाव और विपरीत में द्वेषात्मक वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। दोनों वृत्तियों का विस्तृत परिवार, उसी परिवार में वह स्व-पर विज्ञाता शक्ति भी अयगोलक में आग की तरह सब वृत्तियों के रूप को धारण करती हुई अनेक रूपों में प्रतिभासित होने लगती है। वह उन रूपों में इतनी फंस जाती है कि स्व-पर-विज्ञाता शक्ति, न तो उन सूक्ष्म वृत्तियों को भली-भांति पहचान पाती है और न स्वयं के स्वरूप को। अतः घड़ी के कांटे की तरह वृत्तियों में घूमती रहती है। इसलिए अधिकांश मनुष्य अपने जीवन को समझ नहीं पाते। अधिकांश दार्शनिकों के लिए भी जीवन एक रहस्यपूर्ण समस्या बन गया है। इससे वे भी इस वृत्तिपाश को चीरकर स्व-पर-विज्ञाता शक्ति के आधारभूत अविनाशी सर्व शक्तिसम्पन्न तत्त्व का साक्षात्कार न कर पाये और अनेक आंतरिक शंकाओं से ओत-प्रोत बन गये। तो फिर अन्य प्राणियों का तो कहना ही क्या।

दिनांक 11-1-67

जब अशुभ वृत्तियों का रंग सही ज्ञानशक्ति से धुलता है, तब आन्तरिक आचरण-शक्ति वृत्तियों को आलोक देती हुई प्रस्फुटित होती है तथा आन्तरिक एवं बाह्य वृत्तियों में सामञ्जस्य स्थापित करती हुई उन्हें विस्तृत बनाती है, तब छोटे परिवार की सीमा समाप्त होकर वसुधैव कुटुम्ब की सीमा बनती है। किसी भी जीवन को चाहे वह छोटे-से-छोटा क्यों न हो, मनसा-वाचा-कर्मणा सताने का परित्याग, दूसरे से सतवाना या अन्य के द्वारा सताये जाने का अनुमोदन तो दर किनार बल्कि त्रिकरण त्रियोग से उनके रक्षण के सत्संकल्प को सुदृढ़ करना, जीवन में सहज प्राप्त विषय साधनों के संपरित्याग के साथ अन्य के रक्षण में यथायोग्य संवितरण में सदुपयोग का प्रतिपादन, आदि का प्रवाह, वह आचरण शक्ति पैदा कर देती है। उस प्रवाह से अन्य का कुछ बने या नहीं, पर स्वयं का तो बहुत बन जाता है। द्वन्द्वात्मक सापेक्ष द्रव्य वृत्तियों के नीचे दबी भावशक्ति का विकास द्रुतगति से होने लगता है और उसी विकास को वसुधैव कुटुम्ब की स्थिति से ऊपर उठकर समतादर्शन की पराकाष्ठा पर पहुँचने का अवसर प्राप्त हो सकता है। इसको अहिंसक शक्ति भी कह सकते हैं। शास्त्रों में ऐसी शक्ति को महाव्रत की संज्ञा दी है, लेकिन तलस्पर्शी दृष्टि से इसे आचरण में लाना तो दूर अनुभूति के साथ समझने का प्रयास भी प्रायः विरल-सा ही रहता है।

दिनांक 12-1-67

अचल, अविनाशी, अखण्ड, परम शुद्ध, अन्तिम परिपूर्ण ज्ञान-विज्ञान, आदि समस्त श्रेष्ठतम शक्तियों के स्व-पर-स्वरूप के चरम विज्ञात सत्य को—अविचल—परम लक्ष्य के रूप में स्थापित करने का दृढ़ संकल्प आने पर कोई भी बाधक तत्त्व बाधकता के रूप में नहीं रह सकता। ऐसे पुरुष के सामने जीवन की व्यक्तिगत कितनी भी जटिल समस्याएं क्यों न आ जायँ, उसके लिए जटिलता रह ही नहीं सकती। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्व सम्बन्धी परस्पर अत्यधिक भिन्नता के कारण विरुद्ध दिखाई देनेवाली गूढ़ गुत्थियां सरलतम प्रतीत होंगी। इतना ही नहीं, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अन्तर् दृष्टि से विलोकित जो विश्व का विभिन्न स्वरूप है, जिसको स्थूलदृष्टि स्थूल विचार चलित दार्शनिक दृष्टियां आज तक के समस्त वैज्ञानिक औजार के माध्यम से नहीं देख पातीं, उनके अन्तर्गत रहने वाली समस्त गतिविधि किसी भी रूप को लेकर क्यों न सामने आये, उस पुरुष के लिये न कोई आश्चर्य का विषय होगा, न किसी प्रकार का संकोच, न किसी जाति की ग्लानि, न किंचिदपि किसी कोने के अनन्तवें भाग में भय की छाया की झलक। वह तो पवित्र सलिलधारा की भांति अपनी परम मस्तानी अबाध शक्ति का आलोक लेकर चलता रहेगा। उसके लिये न कोई विरूप है, न कोई बाधक, न कोई सर्वथा पर, न विक्षेप की काली घटा, विराग की परमलता, न कोई बाधक दीवार और न आपत्ति की चट्टान। उसके लिए तो सदा-सर्वदा राजमार्ग विद्यमान रहता है। किसी प्रकार की रुकावट नहीं। अतः गति अवरोध का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

दिनांक 16-1-67

किसी भी वस्तु की विशेषता उसकी विपुलता में एवं वर्णता में नहीं, किन्तु उसके विशिष्ट महत्त्व पर निर्भर है। वह विशिष्ट महत्त्व बाहर से नहीं आता। वह तो आन्तरिक शक्तियों से ही विकसित होकर पल्लवित होता है। एतदर्थ उन शक्तियों को सम्यक्रीति से विकसित करने हेतु सत्कार पूर्वक दृढ़ संकल्प के साथ अभ्यास में लग जाना चाहिये। अभ्यास नियत समय के साथ प्रारम्भ करके उत्साहपूर्वक बढ़ाना इसमें निरन्तर ही आदत बन जाय वैसा प्रयास करना अति आवश्यक है। अन्य सब विषय गौण बनने पर ही यह विषय अधिक स्फुट हो सकता है।

दिनांक 2-2-67

जीवन की रेखा पलटना स्वयं के हाथ है। जैसा भी जीवन बनाना चाहें, बनाया जा सकता है। पर वैसी अटूट दृढ़तर श्रद्धा की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिये ज्ञान की शक्ति भी सही दिशा की ओर होनी चाहिए।

दिनांक 18-2-67

मुख्य रूप से अपूर्ण शक्ति एक दिशा में अधिक विकसित होती है। भौतिकता में मुख्य ध्यान रहता है तो आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास होता है। विभिन्न भौतिक शक्तियां विकसित होती हैं। भौतिक शक्ति के चकाचौंध में आध्यात्मिक शक्तियां विस्मरण के गर्त की ओर प्रवाहित होती हुई अव्यक्त दशा को प्राप्त होती हैं। यही कारण है कि आत्मा कुछ हद तक विकसित होकर पुनः कुण्ठित हो जाती है। यह एक तरह का चक्र-सा बन जाता है। प्राणी किंकर्तव्यविमूढ़ता का अनुभव करता हुआ दुःख-परम्परा का निर्माण करता रहता है।

दिनांक 15-3-67

अपूर्ण दशा की शक्ति की भी दो तरह की सीमा होती है। परिपक्व अवस्था में पहुँचने के पहले यदि उस शक्ति को व्यवस्थित रूप से विवेक के साथ नहीं संभाला जाय, तो वह कच्ची अवस्था में ही छिन्न-भिन्न होकर बेकार-सी बन जाती है। अतः उस अवस्था में मुख्यतया वास्तविक विकास की ओर ही लगना चाहिए। जब वह परिपक्व अवस्था में पहुँच जाय, तब उसकी अखूटता को देखना चाहिए कि परिपक्व होने पर भी वहीं रुकने वाली है या उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाली है। यदि यह मालूम हो कि वह रुक गई है, तो वहाँ पर पहले दूसरी दशा में न लगकर निरन्तर उसको बढ़ाने में लगना चाहिए। यदि ज्ञात हो कि रुकी नहीं, वृद्धिगत हो रही है और अखूटता की अवस्था को प्राप्त हो रही है, तो उसे अन्य दिशा की ओर भी यथासम्भव लगाया जा सकता है। यह एक सीमा है। दूसरी परिपक्व होने के पश्चात् भी केवल भौतिक विज्ञान की ओर ही लगती है, तो उसमें काल्पनिक-संतुष्टि भले ही समझी जाय, वास्तविक शांति का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वह शक्ति ऊपर ही ऊपर तैरती हुई विलय को प्राप्त हो जाती है। अन्ततोगत्वा जीवन विफलता की भट्टी में जल जाता है। अतः इन अपूर्ण अवस्था की दोनों सीमाओं को मद्देनजर रखते हुए वास्तविक सम्पूर्ण सर्वांगीण अमरता के लक्ष्य को दृढ़तापूर्वक स्थिर बनाकर चलना चाहिए।

दिनांक 16-3-67

किसी भी विषय का परिवर्तन करने में मस्तिष्क का अर्थात् विचारों का परिवर्तन होना नितान्त आवश्यक है । विचार बदलने पर उच्चार (वाणी) सहज ही बदल जाता है । इनमें तीव्रता आने से आचार में परिवर्त्तन लाने में कठिनाई नहीं आती । यह एक वैज्ञानिक पद्धति है । आज का विचारकवर्ग सोचता कि समाज में रचनात्मक स्थिति आनी चाहिए । ऐसा सोचकर कुछ विचारक तावउले भी हो जाते हैं और वैसा दृश्य नदेखने पर वे हतोत्साह भी शीघ्र बन जाते हैं । लेकिन प्रायः बहुत कम व्यक्ति उसकी गहराई में पहुँचने का प्रयास कर पाते हैं । कुछ प्रयास होते भी हैं, तो वे प्रायः वैज्ञानिक पद्धति से शून्य बनते हैं । अतः उसके यथेष्ट परिणाम न आकर अधिकांश विकृत बन जाते हैं। इसलिए इस विषय में गम्भीरता पूर्वक सोचने की आवश्यकता है ।

दिनांक 16-3-67

मस्तिष्क का परिवर्तन केवल आर्डर से नहीं होता, वह होता है हिताहित प्राप्ति-परिहार के सही विज्ञान से । वह विज्ञान केवल भौतिक नहीं, अपितु भौतिकता पर नियन्त्रण पर क्षमता रखने वाले आध्यात्मिक विज्ञान है । आध्यात्मिक विज्ञान बाजारू वस्तु की तरह सहज मिलने वाला नहीं । उसके लिए कठिन तप की आवश्यकता है । कठिन तप इसलिए कि विकारी दशा से मन को दृढ़ता के साथ मोड़ना पड़ता है । वह मोड़ आर्थिक दृष्टिप्रधान पाठशालाओं व महाविद्यालयों (कॉलिजों) में नहीं हो सकता है । क्योंकि उसमें मुख्य रूप से दृष्टिकोण का भेद है । वैसे ही पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीयता प्रधान दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन की स्थिति प्राय: नहीं रहती । क्योंकि वहाँ भी मुख्य दृष्टिकोण तत्-तत् (उस-उस) विषयक रहता है । यदि वैसा नहीं रखा जाता है, तो वे अपने-अपने स्थान के सफल कार्यकर्त्ता साबित नहीं हो सकते । अत: कदाचित् किसी के नहीं चाहने पर भी विवशता के साथ वैसा रखना पड़ता है । इस प्रकार के जितने भी कार्यक्षेत्र हैं वे प्राय: विकारी दृष्टिकोण में सफल नहीं हो सकते । बल्कि उनमें भी नैतिक संचालन के लिये अन्य की आवश्यकता रहती है । अत: इसकी पूर्ति के लिये ऐसे वर्ग की आवश्यकता है, जो कि इन दृष्टिकोणों से ऊपर उठा हुआ वास्तविक स्थिर लक्ष्यनिष्ठ आन्तरिक ऊर्जा सम्बन्धी अनुभूतियों से ओत-प्रोत होता हुआ, ऐसा रूपान्तर ला सके ।

दिनांक 19-3-67

शरीर किसी नियत स्वभाव वाला नहीं है । इसमें जिस भी स्वभाव के संस्कार निश्चित समय पर डालने का अभ्यास किया जाय, वैसा बन सकता है । प्रारम्भ में कुछ कठिनता महसूस होगी, अटपटा लगेगा । कुछ समय के लिये ऐसा भी अनुभव होगा मानो अस्वाभाविक स्थिति का काम कर रहा हूँ । मन ऊब-सा जायगा, उससे हटने की कोशिश होने लगेगी एवं पूर्व स्वभाव को ही अपना स्वभाव समझ कर उसी का प्रतिपादन करने की उमंग भी उठ सकती है । लेकिन इस सब के बावजूद भी जिस अभ्यास को चालू किया है, उससे जरा भी पीछे न हटकर अनवरत गति से निश्चित समय में प्रवाहित होता रहे तो कालान्तर में अनुभव होगा कि मैं जिन गुणात्मक सस्कारों का आरोपण चाह रहा था यही मेरा वास्तविक स्वभाव है । ऐसा होने पर इसके बिना चैन नहीं पड़ेगा । उससे विपरीत स्थिति पसन्द नहीं आयेगी । इस प्रकार जिन भी संस्कारों का स्वभाव बनाने की आवश्यकता हो उन्हीं संस्कारों का पूर्वोक्त रीति से अभ्यास होने पर वैसा स्वाभाविक स्वभाव इस शरीर का बन सकता है । काफी समय के पश्चात् तो बिना ही अभ्यास निश्चित समय पर वैसा ही अनुभव होने लगता है ।

यह शरीर एक प्रकार की वह भूमि है, जिसमें सभी प्रकार की सर्व अर्थ परमार्थ, आदि रूप फसल तैयार हो सकती है। इसको एक दृष्टि से चिंतामणि, की उपमा दी जा सकती है । बशर्ते कि इसका अधिष्ठाता आत्मदेव वास्तविक ज्ञान-विज्ञान-अनुभूति पूर्वक आचरणसम्पन्न हो ।

दिनांक 20-3-67

अधिकांश मनुष्यों का दृष्टिकोण वर्तमान विज्ञान की ओर आकर्षित है। वे उसी में सब कुछ पाने की आशा में हैं, लेकिन सृष्टि का वास्तविक तत्व कुछ रहस्यमय है। उस रहस्य की खोज भी गतिशील है। एक रोज कुछ मात्रा में अभिव्यक्त हो सकता है, लेकिन वैसी योग्य भूमि तैयार होने पर। संसार सोच रहा है कि विज्ञान परमाणु भेदन कर रहा है, पर बात ऐसी नहीं है। परमाणु का भेदन कोई वैज्ञानिक नहीं कर सकता। वैज्ञानिक क्या, देव, दानव आदि कोई कितना ही शक्तिशाली व्यक्ति क्यों न हो, त्रिकालवर्ती अनन्त भूत-भविष्य में भी न किसी ने वास्तविक परमाणु का भेदन किया है, न करता है, न करेगा। पर आजकल जो कुछ हो रहा है, वह वस्तुतः परमाणु-भेदन नहीं। वह तो अनन्त परमाणु के स्कन्ध का भेदन है। ऐसे भेदन से भी भौतिक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है और हो सकता है। पर जिस विधि से जो हो रहा है, उस विधि के अतिरिक्त भी कुछ विधियां ऐसी हैं जिनसे प्रचलित मशीनों के बिना भी अनन्त परमाणु के सूक्ष्म स्कन्धों को आसानी से तोड़ा जा सकता है और वर्तमान विज्ञान भी विवेक के साथ सही दिशा में आगे बढ़ता रहा, तो एक रोज वह भी उस विधि पर पहुँच सकता है।

दिनांक 21-3-67

मानव प्रायः स्थूल दृष्टि वाला रहता है। उसके पास सूक्ष्म दृष्टि प्रायः नहीं के बराबर रहती है। यही कारण है कि—वह आन्तरिक आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। स्थूल पदार्थ में ही वह सब कुछ पाना व देखना चाहता है, लेकिन स्थूल पदार्थों में सार प्रायः नहीं रहता। अधिकांश सारतत्त्वों के हटने पर स्थूलता आती है। स्थूल पदार्थ जल्दी ही बिखर जाते हैं, अतः उनमें वास्तविकता का दर्शन नहीं हो पाता है और उसी को यदि सब कुछ समझ लिया जाता है, तो समझिये यह बहुत बड़ी नासमझी है अर्थात् अमूल्य जीवन को हाथ से खोना है, जो कि पुनः शीघ्र मिलना दुःस्वार ही परिलक्षित होता है। एतदर्थ प्राप्त समय का सदुपयोग जीवन की सार्थकता एवं वास्तविक आनन्दानुभूति के आन्तरिक रसास्वादन की उपलब्धि के लिए स्थूल पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझने के साथ-ही-साथ सूक्ष्म पदार्थ, चाहे वह दृश्य या अदृश्य हो, की ओर दृष्टिकोण रखना अत्यावश्यक है। वर्तमान में पूरा समझ में नहीं आ रहा है, एतावता उसको नहीं मानना बहुत बड़ी भूल होगी और जीवन-विकास भी रुक जायेगा। जीवन-ग्रन्थियाँ उलझ जायेंगी। दिशा में परिवर्तन आ जाएगा। अतः केवल स्थूल दृष्टि खतरे से खाली नहीं है।

दिनांक 24-3-67

जीवन की समग्र प्रवृत्तियों पर विचार किया जाय, तो आंखों देखी प्रवृत्ति तो अति ही स्वल्प मालूम होगी। अधिकांश प्रवृत्ति आन्तरिक विभिन्न विचारों से बनती है। वे विभिन्न विचार श्रवण, आदि इन्द्रियों द्वारा अथवा मनोजनित होते हैं। मनोजनित में द्रव्य व भाव मन सम्मिलित होने से अनेकानिक विचार प्रवाह-प्रवाहित होने लगते हैं। उन्हीं के आलोक में जीवन की समग्र प्रवृत्तियां बनती-बिगड़ती रहती हैं। उन्हीं में शुभाशुभत्व की स्थिति आने पर प्रवृत्तियों के पीछे भी शुभाशुभ का विशेषण लगता है, जो कि क्रमशः विकास एवं ह्रास का बोधक बनता है। ये ही प्रवृत्तियां जब परिपक्व अवस्था को प्राप्त होकर इन्द्रियगोचर आचरण स्थिति को प्राप्त होती हैं तो तद् जनित पक्वफल की प्राप्ति एवं अन्य जीवन के लिए क्रियात्मक मोड़दायी बनती हैं। पर इन सभी का प्रारम्भिक प्रेरणादायी मूल स्रोत व्यक्तिनिष्ठ विभिन्न विचार-प्रवाह में रहता है। साधारण व्यक्ति तो उस विचार-प्रवाह को पूरा समझ ही नहीं पाता। अतः वह मशीन की तरह कार्य करता हुआ सोचता है कि मुझे ऐसा कार्य कौन करवा रहा है? इन प्रश्नों का समाधान अपने से अतिरिक्त शक्तियों की कल्पना में खोजता है और विभिन्न प्रेरक शक्तियां मान ली जाती हैं। ऐसा कल्पनाशील व्यक्ति काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर आदि एकान्तिक कल्पना के अन्धकार में उलझ जाता है और उनमें से किसी एक को ऐसी मजबूती से पकड़ता है मानो ईश्वर भी आकर छुड़ाने की कोशिश करे, तो नहीं छोड़े। इससे भी वह प्रायः प्रत्येक कार्य में विफलता का अनुभव करता है। वह अपने निजी विचारालोक को नहीं देख पाता। कुछ देखने की चेष्टा भी करता है, परन्तु विचार-आलोक को देखने का सही बोध नहीं होने से चमगादड़ की आंखों से धूप की तरह देखना चाहता है, अतः देख नहीं पाता। अन्ततः हताश हो बैठ जाता है। कुछ सही तरीके से देखने का यत्न करने पर यत्किंचित् सफलता में पूर्णता का अभिमान कर विकास के द्वार बन्द कर देता है अथवा आजीविकोपार्जन में लग जाने से दृष्टिकोण बदल डालता है, विरले ही इन विकारों से बचकर विचारालोक में प्रविष्ट हो सही सत्य तत्त्व को पकड़ पाते हैं।

दिनांक 24-3-67

जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में रही हुई है, उसे उस समय, उस अपेक्षा से उस रूप में जानना-मानना सम्यक्ज्ञान है। इससे विपरीत, यानि जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में नहीं है, उस उपेक्षा से उसको उस समय, उस रूप में जनना या मानना मिथ्याज्ञान है।

जिस समय मुख्य रूप से जिस भाग का वर्णन होता है, उस समय अन्य भागों का विषय गौण रूप में रहता हो, वह सम्यक् नयादि का कथन समझना चाहिए। लेकिन विषय प्रतिपादन में गौण-मुख्यभाव की अपेक्षा सर्वथा छोड़ दी जाती है। एकान्त रूप से एक ही भाग का प्रतिपादन एवं अन्य भाग का सर्वथा अपलाप हो, वे दुर्नयादि मिथ्या हैं। उससे दुःख, दारिद्रय, पतन का कार्य बनता है। सुख, समृद्धि, उत्थान का कार्य नहीं बनता है। अत मिथ्याज्ञान—दुर्नयादि से सर्वथा दूर रहकर सद्ज्ञान, सम्यक् नयादि से वस्तु स्वरूप समझकर श्रेयमार्ग की ओर बढ़ना चाहिए।

दिनांक 26-3-67

मनुष्य क्या सोचता है और क्या सोचना चाहिये ! वह सोचता है मैं व्यापार करूं, उद्योग करूं, नौकरी करूं अथवा अन्य किसी विधि से पैसा कमाऊं, धनवान बनूं, परिवार वाला बनूं, अधिकार प्राप्त करूं, हकूमत करूं, आधिपत्य जमाऊं, यशकमाऊं, संसार के विषयों का उपभोग करूं। यही जीवन का सार है, आदि। लेकिन उपर्युक्त प्रकार से सोचना और उसी को लक्ष्य बना लेना नितान्त भ्रांतिपूर्ण है, भूलभुलैया है, जीवन के साथ धोखा है। विपरीत मार्ग है, अधः-पतन की सीढ़ी है। मानवता खोना है, पशुत्त्व में प्रविष्ट होना है, अतः सही तरीके से सोचने की आवश्यता है।

वह यह कि धन स्थायी नहीं, परिजन प्रायः स्वार्थ भावना से प्रेम करते हैं, अधिकार, अहंकार बढ़ाने वाला है, आधिपत्य जीवन को झकझोरने वाला है। समग्र स्थितियों का भली-भाँति चिन्तन करते हुए शुद्ध लक्ष्य के साथ यथास्थान, यथायोग्य स्वयं की सीमा के अनुरूप कार्य करते हुए निरन्तर कदम आगे बढ़ाने का चिन्तन करना चाहिए !

दिनांक 29-3-67

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि स्व की ओर ही देखो, पर की तरफ नहीं। पर की तरफ देख लिया तो गलत बन जाओगे। भटक जाओगे। किन्तु इस प्रकार का कथन करने वाले अंधेरी गुफा में बैठने वाले अन्धे व्यक्ति के समान हैं। वे स्वयं को भी नहीं देख पाते, और जो स्वयं को नहीं देख पाता वह स्व-पर के मार्ग को कैसे बता सकता है? कारण कि जो पर की ओर देखेगा ही नहीं, वह स्व को भी कैसे पहचानेगा? जो पाप को नहीं जानता, वह पुण्य को भी कैसे जानेगा? जो अधर्म को नहीं जानता, वह धर्म को कैसे जानेगा? जिसने जड़ के स्वभाव को नहीं समझा, वह चैतन्य के स्वभाव को कैसे समझेगा? अर्थात् एक दूसरे के स्वरूप को समझे बिना, उन दोनों में भेद है, यह निर्णय कैसे करेगा? प्रतिदिन रूप में भी देखा जाय, तो परिवार के एक सदस्य को उसी परिवार का दूसरा सदस्य नहीं देखे, तो क्या वह परिवार चल सकता है? पथिक अपने आप को ही देखे और अपने से भिन्न यानि-पर-दूसरे पथिक को, साइकिल, तांगे, मोटर, कार, स्कूटर, मार्ग आदि को बिना देखे, बिना सोचे चलता है, तो क्या वह बिना टकराये चल सकता है? बुद्धिमान का उत्तर होगा, नहीं! वैसे ही पर का ज्ञान किये बिना स्वयं का ज्ञान नहीं कर सकता। जिसका भी ज्ञान करना होगा, जिसको भी समझना होगा, उसकी ओर देखे बिना, न ज्ञान किया जा सकता है और न उसको समझा ही जा सकता है। अतः स्व का ज्ञान करने के लिए भी पर की ओर देखना अर्थात् पर का ज्ञान करना भी आवश्यक हो जाता है।

दिनांक 3-4-67

प्रत्येक वस्तु का यथोचित आवश्यक ज्ञान होने पर ही इसकी हेय-उपादेयता विदित हो पायेगी। उसके पश्चात् ही मोह-जनित आसक्ति-अनासक्ति का प्रश्न आता है। किसी भी पर पदार्थ को वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से यथास्थात देखना एवं वस्तुस्वरूप के पूर्ण लक्ष्य की सिद्धि के लिए योग्य प्रेरणा ग्रहण करना गलत नहीं कहा जा सकता—बल्कि गलत वह है कि इसका सर्वथा निषेध किया जाय, अथवा मोहजनित आसक्तिपूर्वक देखा जाय। अतः विवेक-दीप की आवश्यकता है।

दिनांक 4-4-67

जीवन की साधना में तल्लीन रहने वाला, अन्य विषयों में आसक्त नहीं बनता। उसकी स्थिति लक्ष्य-सिद्धि में मुख्य रूप से रहेगी, अन्य विषय को प्रसंगोपात ग्रहण कर पायेगा। कौन मेरा मान कर रहा है, कौन अपमान इस विषय पर वह समत्व का अवलम्बन लेगा! वह यह नहीं सोचेगा कि मुझे मान करने वाले से प्रेम से बोलना है और अपमान करने वाले से कत्तई नहीं बोलना है या प्रतिकार करना है, इस का बदला लेना है। वह तो सोचेगा—मेरा साथी है, मेरी शक्ति को बढ़ाने वाला है। इनकी बातों को सुनकर मुझे जीवन का परिमार्जन करना चाहिये। यदि कोई त्रुटि हो तो परिमार्जन करना है। यदि त्रुटि न हो, तो सोचना है कि मेरे कर्मों की निर्जरा हो रही है।

दिनांक 20-4-67

प्राणी मात्र का एक सबसे बड़ा भयंकर शत्रु है, जो हर समय उसका नाश करता रहता है। वह सबके की दृष्टि में जल्दी नहीं आता। कभी आता भी है, तो उसका बड़ा स्थूल रूप। पर वह तो किसी धौंकने की मशान में अचानक ज्वाला के रूप को धारण करने वाली आग के समान है। जैसे दबी आग शनैः शनैः पास के छोटे-बड़े सभी तत्त्वों को प्रतिक्षण जलाती रहती है। वैसे ही वह शत्रु प्रतिक्षण प्राणीमात्र के अन्दर रहने वाले छोटे-मोटे जीवन-तत्त्व को भस्म करता रहता है। जिसका विज्ञान बड़े-बड़े समाज के कर्णधार विचारक चतुर कहलाने वालों को नहीं हो पाता। वे भी प्रायः उसके चंगुल में फंसे रहते हैं। वह क्षय रोग के कीटाणु की तरह सताता रहता है। दूसरी दृष्टि से देखा जाय, तो वह समस्त अध्यात्म रोगों की जड़ है। बड़े-बड़े योगी लोग भी कभी-कभी उससे आक्रान्त होते सुने गये हैं। अन्य का तो कहना ही क्या! उसी का असर स्थूल शरीर पर भी पड़ता है और अनेक बीमारियां आ घेरती हैं, जिनका निवारण करने में बड़े-बड़े डॉक्टर भी प्रायः असफल रहते हैं। उस रोग से मुक्ति पाये बिना ही प्राणी चल बसता है। साधना का क्षेत्र भी पूरा सफल नहीं हो पाता। शान्ति की चादर को प्रतिक्षण कतरने वाले पहाड़ी चूहे के समान सम्पूर्ण आपत्तियों का प्रमुखद्वार वह शत्रु है—प्राणी के अन्दर में रहने वाला 'काल्पनिक भय'।

दिनांक 21-4-67

प्रत्येक वस्तु का यथोचित आवश्यक ज्ञान होने पर ही इसकी हेय-उपादेयता विदित हो पायेगी। उसके पश्चात् ही मोह-जनित आसक्ति-अनासक्ति का प्रश्न आता है। किसी भी पर पदार्थ को वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से यथास्थात देखना एवं वस्तुस्वरूप के पूर्ण लक्ष्य की सिद्धि के लिए योग्य प्रेरणा ग्रहण करना गलत नहीं कहा जा सकता—बल्कि गलत वह है कि इसका सर्वथा निषेध किया जाय, अथवा मोहजनित आसक्तिपूर्वक देखा जाय। अतः विवेक-दीप की आवश्यकता है।

दिनांक 4-4-67

जीवन की साधना में तल्लीन रहने वाला, अन्य विषयों में आसक्त नहीं बनता। उसकी स्थिति लक्ष्य-सिद्धि में मुख्य रूप से रहेगी, अन्य विषय को प्रसंगोपात ग्रहण कर पायेगा। कौन मेरा मान कर रहा है, कौन अपमान इस विषय पर वह समत्व का अवलम्बन लेगा! वह यह नहीं सोचेगा कि मुझे मान करने वाले से प्रेम से बोलना है और अपमान करने वाले से कत्तई नहीं बोलना है या प्रतिकार करना है, इस का बदला लेना है। वह तो सोचेगा—मेरा साथी है, मेरी शक्ति को बढ़ाने वाला है। इनकी बातों को सुनकर मुझे जीवन का परिमार्जन करना चाहिये। यदि कोई त्रुटि हो तो परिमार्जन करना है। यदि त्रुटि न हो, तो सोचना है कि मेरे कर्मों की निर्जरा हो रही है।

दिनांक 20-4-67

प्राणी मात्र का एक सबसे बड़ा भयंकर शत्रु है, जो हर समय उसका नाश करता रहता है। वह चमड़े की दृष्टि में जल्दी नहीं आता। कभी आता भी है, तो उसका बड़ा स्थूल रूप। पर वह तो किसी कोयले की खदान में अचानक ज्वाला के रूप को धारण करने वाली आग के समान है। जैसे दबी आग शनैः शनैः पास के छोटे-बड़े सभी तत्त्वों को प्रतिक्षण जलाती रहती है। वैसे ही वह शत्रु प्रतिक्षण प्राणीमात्र के अन्दर रहने वाले छोटे-मोटे जीवन-तत्त्व को भस्म करता रहता है। जिसका विज्ञान बड़े-बड़े समाज के कर्णधार विचारक चतुर कहलाने वालों को नहीं हो पाता। वे भी प्रायः उसके चंगुल में फँसे रहते हैं। वह क्षय रोग के कीटाणु की तरह सताता रहता है। दूसरी दृष्टि से देखा जाय, तो वह समस्त अध्यात्म रोगों की जड़ है। बड़े-बड़े योगी लोग भी कभी-कभी उससे आक्रान्त होते सुने गये हैं। अन्य का तो कहना ही क्या! उसी का असर स्थूल शरीर पर भी पड़ता है और अनेक बीमारियां आ घेरती हैं, जिनका निवारण करने में बड़े-बड़े डॉक्टर भी प्रायः असफल रहते हैं। उस रोग से मुक्ति पाये बिना ही प्राणी चल बसता है। साधना का क्षेत्र भी पूरा सफल नहीं हो पाता। शान्ति की चादर को प्रतिक्षण कतरने वाले पहाड़ी चूहे के समान सम्पूर्ण आपत्तियों का प्रमुखद्वार वह शत्रु है—प्राणी के अन्दर में रहने वाला 'काल्पनिक भय'।

दिनांक 21-4-67

दुर्ग । १८-१०-६७ की पिछली रात्रि पांच बजकर चालीस मिनट के लगभग गणित का चिन्तन करते हुए पाट से नीचे उतरते अन्तर आभास का दृश्य अपूर्व था । प्रथम तो उज्जवलता ऐसी लग रही थी, जैसे प्रकाश पुंज में से धूम्र जड़मूल से अलग हट रहा हो । इससे महसूस होने लगा कि मिथ्यात्व आदि विकार जड़मूल से उखड़ गये हों, और सर्व विकारी प्रवृत्तियों धुएँ के रूप में लगने लगीं । तदन्तर विचार हुआ कि वस्तुतः आत्मा की दशा इस प्रकार से आगे बढ़ती है । सन्त जो पढ़ाई कर रहे हैं, वह भी आवश्यक है । पर इन सन्तों की योग्यता बढ़ जाय तो आंतरिक पढ़ाई इससे भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है अत: इसके लिए एक विधान-पद्धति का आन्तरिक कोर्स तैयार कर उसके अनुसार आन्तरिक अध्ययन करवाऊँ । इसके पश्चात् ऐसा भासित होने लगा कि धूम्र रहित ३-३" हाथ के लगभग लम्बे और गोल थम्बे के समान गोल छड़ जैसा प्रकाश पुञ्ज का दृश्य आन्तरिक स्थिति के सामने है ।

दिनांक 18-10-67

योगसाधना के कई प्रकार और विभिन्न मत संसार में प्रचलित हैं । लेकिन सहजिक योग की पद्धति प्राय: नहीं के बराबर है । अत: सहजिक योग के आधर की स्थिति को सामने रखकर पहले शरीर-रचना की आन्तरिक स्थिति में चक्र, आदि का कुछ संकेत लेना आवश्यक है ।

दिनांक 9-12-67

शरीर की रचना वैज्ञानिक पद्धति से बनी हुई है। इसका पूर्ण विज्ञान परिपूर्ण सम्यग् ज्ञान-शक्ति के बिना शक्य नहीं। फिर भी यत्किंचित अन्तर चित् आभास की अवस्था से चिन्तन किया जा सकता है, वह भी स्नायु के माध्यम से। क्योंकि चैतन्य आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी अपूर्ण दशा में शरीर के सूक्ष्मतम अवयवों के साथ स्नायु, आदि के माध्यम से कार्य करता है। चैतन्य आत्मा का प्रकाश अनन्त सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक है। उस आत्मज्ञानप्रकाश को उपमा की दृष्टि से नहीं आंका जा सकता, ऐसे परिपूर्ण ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करने का लक्ष्य सदा सम्मुख रखकर शरीर रूप में रहने वाले चैतन्य आत्मा को सम्यग्ज्ञान के साथ अवलोकन करने का सही प्रयास होना आवश्यक है। एतदर्थ सर्वप्रथम इस अवस्था की योग्यता आना नितान्त आवश्यक है।

दिनांक 10-12-67

योग्यता के लिए सूक्ष्म एवं स्थूल समग्र प्रकार के जीवों को आत्मवत् समझने के साथ उनके प्रति शक्ति भर समतादर्शन की वृत्ति बनाई जावे। इस समतादर्शन को संक्षिप्त व विस्नार से यथास्थान समझकर पूर्ण आचरण रूप में परिणत करना।

समतादर्शन केवल मस्तिष्क रूप से न होकर आन्तरिक अनुभूतियों में परिस्फुटित होना चाहिए। आन्तरिक अनुभूति में समतादर्शन के अभिव्यक्त होने पर पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी समग्र विषय की तृष्णा के परित्याग की अवस्था स्पष्टरूप में आयेगी और उस अवस्था में मन की विकृत अवस्थाएं सीमित होकर समभाव वृत्ति वन जायेंगी।

ऐसी अवस्थाएं आने पर ही चैतन्य आत्मा उपर्युक्त लक्ष्य मद्दे-नजर रखता हुआ जिन-जिन अवयवों के माध्यम से शुभाशुभ प्रवृत्ति करता है, उन-उन शारीरिक अवयवों में वह चैतन्य स्वयं-स्वयं की ही ज्ञानशक्ति से अपने आपको अवलोकन करने का अभ्यास करे और यह देखने का प्रयास करे कि इन अवयवों में चैतन्य का परिस्पन्दन किस प्रकार हो रहा है।

ऐसे तो शरीरव्यापी चैतन्य शरीर के प्रत्येक अवयव में अपना साकार रूप धारण करके रहा हुआ है। अत: शरीर के वाह्य अवयवों का परिस्पन्दन प्राय: सामान्य रूप से चर्मचक्षु से दृष्टिगोचर होता ही है, पर आन्तरिक अवयवों का, आवरणयुक्त तथा सूक्ष्मतर होने से, चर्मचक्षु सही रूप में अवलोकन करने में प्राय: असमर्थ हैं। अतः सहजिक योग के माध्झम से अन्तर् के शारीरिक अवयवों में होनेवाले परिस्पन्दनों के माध्यम से चैतन्यशक्ति के प्रकाशपुञ्ज को क्रमिक रूप से विकसित करते हुए लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। लेकिन यह परिस्पन्दन चैतन्ययुक्त शरीर के अवयवों में ही व्यवस्थित पाये जाते हैं, चैतन्य रहित जड़ शरीर में नहीं। चैतन्य रहित जड़ में यदि कोई व्यवस्थित कला देखी जाती है, तो वह व्यवस्थित कला भी उसी स्व-पर-प्रकाश ज्ञानस्वरूप चैतन्य आत्मा की ही है। चैतन्य रहित जड़ में व्यवस्थित कलाकृति बनाने की वैज्ञानिक शक्ति नहीं होती। अत: व्यवस्थित कलाकृति उपयोगवान् चैतन्य की है।

दिनांक 10-12-67

शरीर के आन्तरिक हृदय मस्तिष्क, आदि अनेकों ऐसे अवयव हैं जो डॉक्टरी दृष्टि, आदि से भी भलीभाँति विदित हैं। प्रायः बहुत-से व्यक्ति उनको अच्छी तरह जानते और देखते भी हैं। पर अन्तर् में संवेदन चक्रों आदि को दृश्य पदार्थों की तरह देखा व जाना नहीं जा सकता। उनको जानने की प्रक्रिया अनुभूति, से सम्बन्धित है। वह भी उस प्रकार के निरन्तर अभ्यास आदि के प्रयास से। अतः पूर्वोक्त योग्यता के प्राप्त होने पर सर्वप्रथम कण्ठ में स्थित २५ दलीय कमल के माध्यम से उससे सम्बन्धित विज्ञान को अनुभव में लाना होता है। क्योंकि यह व्यञ्जक तत्त्वों का माध्यम होने के साथ-साथ स्वरविज्ञान का अभिव्यञ्जक है। इसका सही अनुभव होने पर आत्मा के उपाधि तत्त्वों का ज्ञान होने लगता है।

तदनन्तर भ्रकुटि मध्य स्थित त्रिदलीय कमल का विषय आता है, जो कि अन्तर् प्रवेश के द्वार कहे जा सकते हैं। इसके माध्यम से विधि-निषेध तथा निर्माणात्मक गतिविधियों के अनुभूत्यात्मक विज्ञान की स्पष्टता होती है जिससे आगे का दिशा निर्देश बनता है।

दिनांक 11-12-67

मानव जीवन कितना महत्त्वपूर्ण है, इस विषय में प्रायः बहुत कम सोचा जाता है। यही कारण है कि इससे वास्तविक कार्य नहीं बन पाता और अति ही स्वल्प समय में इसे विशीर्णप्रायः बना दिया जाता है। विशीर्ण बनाने वाला अन्य कोई नहीं, स्वयं शरीर का अधिष्ठाता ही है। क्योंकि वह अपनी शक्ति को भूला हुआ किंकर्तव्यविमूढ़ बन रहा है। सभी ओर से शोरगुल की आवाजें टकरा रही हैं। विविध विचार उसके सामने आ रहे हैं। उनका समन्वय नहीं कर पाने से जटिल समस्या में उलझ रहा है। इससे उपराम पाना आवश्यक है।

दिनांक 25-12-67

प्राणी जगत के सामने विविध प्रकार के रूपादि का आकर्षण आता है। वृहद् मस्तिष्क के बीच सुषुम्ना नामक संवेदना-केन्द्र, जो कि विभिन्न प्रकार के दलों से संयुक्त है, उसमें रूपादि विषयक संवेदना चक्षु, आदि के माध्यम से पहुँचाती रहती है। इससे विभिन्न प्रकार के आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रिया बनती-बिगड़ती रहती है। इसका असर समग्र शरीर की प्रक्रियाओं पर भी काफी मात्रा में पड़ता है। फलस्वरूप निर्माणात्मक तथा संहारात्मक अनेक हल-चलों से विभिन्न प्रकार के मानसिक संघर्षों का आन्दोलन छिड़ जाता है। खून की गति के बढ़ने-घटने की दशायें भी यथायोग्य बनने लगती हैं। मनुष्य एक विचित्र स्थिति में पहुँच जाता है, उस स्थिति से संभलना आवश्यक हो जाता है।

शरीर पर जब परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं का असर होने लगता है, तब शरीर की प्रक्रिया को व्यवस्थित रखने वाले शारीरिक यन्त्रों की अवस्था विषम बन जाती है। वैसी दशा में आत्मा की ज्ञान-शक्ति भी स्थिर नहीं बन पाती। कारण कि विरोधी शक्तियों के माध्यम से ज्ञानशक्ति अस्त-व्यस्त बन जाती है।

सुषुम्ना नामक संवेदन-केन्द्र में आने वाले आकर्षणों को यदि वृहत् मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग में स्थित संचालक केन्द्र में व्यवस्थित रूप में पहुँचा दिया जाय, तथा वहीं से प्राप्त संदेशों को आज्ञा-चक्र में माध्यम से संवेदना केन्द्र से संयुक्त करने की व्यवस्था रहे, तो न तो व्यवस्थापक शारीरिक यन्त्र अस्तव्यस्त हो और न मानव जीवन ही खतरे में पड़े। न मनुष्य की समस्या उलझे और न शक्ति का अपव्यय हो। लेकिन इन सबको व्यवस्थित रखने वाली ज्ञान-शक्ति सही रूप में कार्य करने लगे तो उलझी समस्यायें भी सुलझें और नवीन समस्या भी उत्पन्न न हो।

ज्ञान-शक्ति आत्मा की है। अतः आत्मा ही अपनी शक्ति को सही दिशा में मोड़ सकता है। आत्मा विश्व का श्रेष्ठतम तत्त्व है। अन्य सब पदार्थ आत्मा के अधीन हो सकते है और वे आत्मा के अभिप्रायानुसार बन-बिगड़ सकते हैं। उनमें ज्ञानविवेक, अनुभूति, संवेदन आदि चैतन्यधर्म नहीं हैं। वे मूल में चैतन्यधर्म से शून्य होकर भी चैतन्यधर्म के सम्पर्क प्रवेशादि अवस्थाओं को प्राप्त होकर चैतन्य कहलाने लगते हैं, क्योंकि चैतन्य स्वयं उनके साथ ओत-प्रोत होकर

कार्य करता रहता है। वह चैतन्य आत्मा की परतन्त्र दशा है। उसी दशा में चैतन्य आत्मा अत्यधिक घुलमिल जाता है। तब उसकी समग्र बलवती शक्तियां भी कमजोर बन जाती हैं। इसी से उनकी समस्याएं बनती हैं, उलझती हैं, बिगड़ती हैं तथा चैतन्य आत्मा दुःख अनुभव करता है।

समग्र दुःखों का अन्त लाने के लिए मूलभूत स्थिति को वास्तविक रूप से अंकन करते हुए आत्मीय स्वतन्त्र विधि-विधानों को सही रूप में समझकर सही रूप में अमली रूप देने की दृढ़ प्रतिज्ञा होना प्रत्येक सच्चे सुखाभिलाषी मानव के लिए नितान्त आवश्यक है।

दिनांक 26-1-68

मानव किसी भी अवस्था में किसी भी पद पर निरन्तर अभ्यासपूर्वक चलता रहे, तो उस पद की स्थिरता आ जाती है। उसकी मनःस्थिति तुष्टि के साथ आगे बढ़ जाती है। उसमें दृढ़ता, निर्भीकता भी आने लगती है। वह उसमें मस्त बन जाता है। उसका आन्तरिक रस इतना पैदा हो जाता है कि उसकी प्रत्येक प्रकृति में उसका रस झरता रहता है और आस-पास का वायुमण्डल उससे प्रभावित होता रहता है।

दिनांक 16-5-68

मन की वृत्ति जब ईर्ष्यालु बन जाती है, तब वह दूसरे को हर हालत में गिराने की सोचा करता है। रात-दिन उसके मन में दुष्ट संकल्प का जमाव बन जाता है। वे दुष्ट संकल्प उसके अन्दर की ऊर्जा का दुरुपयोग किया करते हैं, जिससे निर्माणात्मक शक्ति का ह्रास और संहारात्मक शक्ति की उत्पत्ति बनती रहती है। परिणाम यह होता हैं कि जीवन स्वल्प समय में ही विषाक्त बनकर अनेक रोगों का आलय बन जाता है तथा इन्सानियत की जिन्दगी से हाथ धोकर पशु आदि अवस्था को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि वह स्वयं का ही सब कुछ नाश करता है। अतः ईर्ष्यालुता को भूल कर भी स्थान देना अबुद्धिमता है।

दिनांक 6-6-68

जीवन में भूल कर भी उद्दण्डता को अवकाश नहीं देना चाहिये। यह वृत्ति जीवन की उष्णता बढ़ा देती है। जो माधुर्य रस आने की अवस्था जीवन में रहती है, उस रस में यह वृत्ति अत्यधिक बाधक बन जाती है। इससे आनन्द की अनुभूति के बदले भावना की अनुभूति होने लगती है। एकाकीपन की दशा का अनुभव होने लगता है। कारण कि उस वृत्ति से प्रायः सब के साथ विरोध की दशा बन जाती है। प्रायः लोग सोचने लगते हैं कि ऐसे व्यक्ति से जितना दूर रहा जा सके उतना अच्छा। यह विचार प्रायः हर व्यक्ति के मन में चलता है। ऊपर से वे उसे प्रेम भी दिखा सकते हैं, पर अन्दर में जो अलगाव के विचार रहते हैं, वे उस उद्दण्ड व्यक्ति को स्वयं परास्त करके स्वयं के मन में शल्य की तरह चुभते हुए एकाकीपन का अनुभव कराते रहते हैं, जिससे सब साधन-सामग्री रहने पर भी वास्तविक सुख-शान्ति का अनुभव नहीं हो पाता। अतः इस वृत्ति से प्रत्येक व्यक्ति को सावधान रहने की आवश्यकता है।

दिनांक 8-6-68

अभिमान की मनोवृत्ति जीवन-विकास में घोरतम शत्रु है। मन में जब अभिमान का अंश रहता है, तब वह किसी छोटे व्यक्ति से बात भी करना पसन्द नहीं करता। चाहे उस छोटे व्यक्ति से कितना भी महत्वपूर्ण कार्य क्यों न हो, उससे बातचीत करने पर अपना बहुत भला हो सकता हो, फिर भी अभिमान उसे बात नहीं करने देता। कभी-कभी यहां तक स्थिति आ जाती है कि मृत्यु के क्षणों तक भी अभिमान उसे झुकने नहीं देता। झुकना तो दूर, बात तक नहीं करने देता। इस प्रकार अनेक तरह की हानियाँ तो वर्तमान जीवन में प्रकट दिखने वाली होती हैं। इसके अतिरिक्त मन की कोमल वृत्ति से विकसित होने वाली अनेक शुभ वृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। उनके कुण्ठित हो जाने से इस जीवन की आन्तरिक शक्तियाँ तो प्राय: नष्ट होती ही हैं, जो लाख प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकतीं। इसके साथ-साथ अगली स्थिति बिगड़ जाती है, क्योंकि अभिमान की दशा में दूसरे के प्रति सदा हीन भावना बनी रहती है। उसकी हीन भावना के समय अगले जन्म का आयुष्य-बन्ध भी नीच गति का होता है। उस गति के प्राप्त होने पर प्राय: उसी के अनुरूप ही आगे के विचार बनते रहते हैं। इस क्रम से अनेक जिन्दगियाँ बरबाद हो जाती हैं। अतः विचारवान् इन्सान को चाहिए कि अपने मन के किसी भी कोने में अभिमान न रहने दे।

दिनांक 9-6-68

मन को बाह्य समझा जाता है और सिर्फ आत्मा को अन्तर का समझा जाता है। पर वस्तुतः यह सत्य नहीं है। मन भी शरीर के अन्दर का करण हैं। उसके बिना बाह्य इन्द्रिय विशिष्ट विज्ञान का साधन नहीं बन पाता। न केवल मन भी बाह्य इन्द्रियों के बिना प्रारम्भिक इन्द्रियजन्य विशिष्ट विज्ञान को ही प्राप्त कर सकता है। इन दोनों का (इन्द्रिय समुदाय और मन का) पारस्परिक घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन्द्रिय स्पष्ट बाह्य कहलाती है और इन्द्रियों की अपेक्षा मन स्पष्ट आन्तरिक कहलाता है। पर यह द्रव्यमन और इन्द्रिय सम्बन्धी बात हुई। लेकिन इससे भी अत्यधिक आन्तरिक स्थिति भावमन की है। वह भावमन आत्मीय शक्ति के रूप में है। इस भाव-मनस्वरूप आत्मीय शक्ति के संयुक्त होने पर ही द्रव्यमन और इन्द्रिय विशिष्ट विज्ञान में माध्यम बनते हैं। उस विज्ञान का वैशिष्ट्य भावमन में ही होता है। इन्द्रिय और द्रव्यमन उसमें प्रारम्भिक माध्यम बनते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बाह्य इन्द्रिय और द्रव्यमन एवं भावमन शरीर में रहते हुए सर्वथा भिन्न हों। इनका संयोग, सम्बन्ध है तथा ये पर्यायभाव से एक दूसरे से दुग्ध-पानी एवं अग्नि-प्रविष्ट अयगोलक की तरह मिले हुए हैं और यह दशा मोक्ष प्राप्त होने के पूर्व तक रहेगी। भावमन भी स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। यह आत्मीय शक्ति है, जो आत्मा को छोड़ कर नहीं रहती। आत्मा शरीरव्यापी होने से भावमन और द्रव्यमन भी शरीर-व्यापी हैं। द्रव्यमन भावमन का अत्यन्त निकटवर्ती, अत्यन्त उप-कारी साधन है। इसके बिना शरीरस्थ पंचेन्द्रियसंज्ञी आत्मा का कुछ भी कार्य व्यवस्थित सम्पादित नहीं होता। अतः इन तत्वों का कार्य भलीभाँति समझने के लिये सतत् प्रयत्न होने चाहिये।

दिनांक 13-6-68

इन्द्रिय और द्रव्यमन के साथ भावमन के अन्तर्गत उपयोग-मन की आसक्ति जिस भौतिक पदार्थ के प्रति बनती है, उस पदार्थ के अनुरूप अत्यधिक सूक्ष्म परमाणु का स्कंदभाव मन के साथ ओत-प्रोत होते हुए भी बीजरूप से आत्मा के साथ संयुक्त हो जाता है जो कि कर्मसंज्ञा के रूप में कहलाने लगता है। उस स्कन्ध की अवधि भी भावमन के अन्तर्गत ही अध्यवसायसंज्ञक परिणाम के अनुसार बनती है। जब अवधि की समाप्ति का समय आता है, तब वह स्कन्ध फल देने की स्थिति में अंकुरित होकर मानो झाड़ का रूप धारण करता है। उस समय द्रव्यमन और इन्द्रियों पर यथासम्भव असर होता है एवं उपयोग की स्थिति के साथ अच्छे-बुरे का अनुभव होता है और उस अवस्था को सही रूप में नहीं पहचानने के कारण आसक्ति और पुनः उसके अनुपात से सूक्ष्म स्कन्ध की बीजरूप में संयुक्त होने की प्रक्रियाएँ बनती-बिगड़ती रहती हैं। इन सबका यथास्थान सूक्ष्मज्ञान करना अत्यावश्यक है।

दिनांक 14-6-68

मानव अपनी स्थिति को नहीं समझने के कारण व्यर्थ की बातों में अपनी मानसिक शक्ति लगाता रहता है और व्यर्थ की कल्पना से रात-दिन सोचा करता है कि वह व्यक्ति मेरा है, मेरी पार्टी का है, मैं उसको अपना बना लूँ, उसके साथ मित्रता कर लूँ, और जो मेरा नहीं है उसकी उपेक्षा कर दूँ, क्योंकि वह मेरे काम में नहीं आता है। अमुक काम तो आता है, पर अन्दर में निन्दा करता है। मेरी जड़ काटता है। मेरी प्रशंसा को बर्दाश्त नहीं करता। अतः उससे सम्बन्ध प्रकट में न तोड़ कर उदासीन हो जाना ठीक रहेगा, आदि न मालूम किस-किस को लेकर कितना क्या सोचता है, जिसको वह स्वयं भी नहीं समझ पाता। और इस प्रकार की कल्पना से वह अपनी शक्ति को बर्बाद करके चल बसता है। कुछ भी (सृजनात्मक) निर्माणात्मक कार्य नहीं कर पाता। यह मानवमन की बड़ी कमजोरियों में से एक है। इसको समाप्त करने के लिये मन में शुद्ध संकल्प की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिये अपने विचारों को साफ करने की पद्धति अपनानी चाहिए। वह यह है कि प्रातःकालीन किसी भी नियत समय में आलस्य को दूर हटाकर एकान्त स्थान में सर्वथा प्रकार से परिपूर्ण सिद्धि प्राप्त आत्मा को नमन कर लक्ष्य स्थिर किया जाय और सर्वथा प्रकार से सभी पापकारी तथा क्षुद्र प्रवृत्तियों का कुछ समय पर्यन्तपरित्याग के दृढ़ संकल्पपूर्वक आचरण में परिणत अवस्था बनाई जाय, ताकि उन प्रवृत्तियों से ऊपर उठने की क्षमता प्राप्त की जा सके। तदनन्तर वास्तविक स्थिति की दृष्टि से विचार किया जाय कि मैं जो कुछ भी सोच रहा हूँ, कर रहा हूँ, उसमें कितना व्यर्थ तथा कितना किस समय तक काम में आने वाला है। इस विषय का भलीभाँति विचार करने पर जीवन की महान् विशालता का अनुभव होने लगेगा और जीवन-विज्ञान की कला बढ़ेगी।

दिनांक 24-6 68

मानव, तू किस बात में भूल रहा है ? तेरी क्या अवस्था है ? तू यह सोच कि मुझे उस स्थायी तत्त्व की तरफ प्रमुख ध्यान लगाना आवश्यक है, जिससे समग्र प्राणियों के साथ मैं आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर सकूँ। विचारों से जीवन को सर्वथा मोड़ देने की भावना से अपनी दिशाओं का मोड़ करता रहूँ। स्वार्थ को, जो आर्थिक दृष्टि से सम्बन्धित है, मैं सर्वेसर्वा नहीं मानता हुआ साधन के रूप में देखूँ। उसमें भी आवश्यक-अनावश्यक का सही तरीके से विचार कर यथायोग्य, यथास्थान परित्याग का प्रयत्न करूँ। अपने-आप के हिस्से जितनी भी वस्तुएँ, मानव-जीवन के साथ सहज प्राप्त हैं, उनको भी मैं यथाशक्ति अन्य समस्त प्राणीवर्ग के लिये परित्याग करने की आस्था रखूँ, ताकि मेरा जीवन समस्त प्राणीवर्ग के साथ साम्यभावपूर्वक व्यापक या विशाल बन जावे। अपनी सदाकाल विद्यमान रहने वाली अमर शक्तियों को सदा के लिये मैं अवश्य प्राप्त करके रहूँगा। मेरी निर्विकार अवस्था को मैं कभी नहीं खोऊँगा। प्राप्त अवसर को सार्थक करूँगा ! कौन मुझे रोकेगा ! मैं पानी की तरह शीतल, मधुर, कोमल, निर्मल, सरल अनवरत गति के साथ बहता हुआ कठिन से कठिन चट्टानों के समान आपत्तियों को भी शीतल बनाता हुआ वास्तविक निश्चल स्थिति पर अवश्य पहुँचूँगा, ऐसा मेरा सही ज्ञान के साथ दृढ़ निश्चय है।

दिनांक 25-6-68

मानव जीवन को शक्ति-समूह का मूल कह सकते हैं अथवा कल्पवृक्ष या कुम्भकलश व चिन्तामणिरत्न आदि पदार्थों से इसकी उपमा दी जा सकती है । यद्यपि उपरोक्त उपमा मानव-जीवन के लिये सर्वांश में नहीं घट सकती। फिर भी अन्य कोई पदार्थ दृष्टि में आनेवाला ऐसा नहीं है कि जिसकी उपमा देकर मानव-जीवन का कुछ महत्व जनसाधारण की दृष्टि में लाया जा सके । अतः मानव-जीवन की तुलना में विशेष कोई महत्व नहीं रखनेवाली अपेक्षाकृत कुछ हीन-वस्तुओं की उपमा दी जाती है, ताकि मानव-जीवन का कुछ तो महत्व अंकन किया जा सके । लेकिन यह कल्पवृक्ष से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण बन सकता है, जब सही ज्ञान के साथ विधिवत् साधना की जाय । अन्य किसी भी जीवन में जो साधना नहीं की जा सके, वह साधना मानव-जीवन में भलीभाँति की जा सकती है । इसलिये शक्ति-समूह को सम्यक् प्रकार से विकसित करने का तथा चरम सीमा तक पहुँचाने का जो स्वर्ण अवसर मानव-जीवन में प्राप्त है, उसका सदुपयोग होना नितान्त आवश्यक है ।

दिनांक 29-6-68

इस विराट् विश्व में अनेकानेक महत्वपूर्ण तत्त्व रहे हुए हैं जिनका पता लगाना साधारण मानव बुद्धि से तो अत्यधिक दूर है, पर अपेक्षाकृत विशिष्ट व्यष्टि भी कुछ तत्त्वों का कुछ अनुमान या कुछ अंश की धुंधली सी यत्किंचित्-झलक पा सकता है। उन अनेकानेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों में से एक वायु भी है। वायु के कई प्रकार हैं। उनमें से कुछेक का स्थूल स्वरूप स्पर्शेन्द्रिय आदि से अनुभव किया जा सकता है। पर अनेक तरह की वायु, जो विश्व में व्यापत है, उसका अनुभव तो दूर कल्पना करना भी कई वैज्ञानिकों के लिये कठिन-सा है। लेकिन यह बात सुनिश्चित रूप से समझनी चाहिये कि वायु एक प्रकार से इस विराट् विश्व की विभिन्न प्रवृत्तियों के संचालन में मुख्य माध्यम है। छोटी से छोटी प्रक्रिया भी इसके माध्यम के बिना संचालित नहीं हो पाती। यथा छोटा-सा यन्त्र। यद्यपि उस यन्त्र के संचालन में अन्य अनेक सहकारी साधन हैं पर वायु यदि उसे रहने का स्थान नहीं देती है, तो वह किस स्थान पर रह कर संचालित हो सकेगा। क्योंकि पृथ्वी तो कुछ आकाश देश में रही हुई है, पर वायु तो समस्त लोक में ठसाठस भरी हुई है। जितना भी स्थान खाली दिखता है वह स्थान अन्य पदार्थों की अपेक्षा से खाली रह सकता है पर वायु से खाली नहीं। यह हर स्थान पर छिद्रयुक्त पदार्थ के अन्दर भी यथायोग्य घनत्व रूप से व्याप्त है। जो कोई भी अन्य पदार्थ कहीं रखना हो, तो वायु वहां से हटती है, तभी उस स्थान पर वह पदार्थ रखा जा सकता है, अन्यथा नहीं। पानी के घट को जलाशय में घट के मुँह को औंधा रख कर पानी भरने की इच्छा से जोर लगा कर पानी में दबा भी दिया जाय, पर पानी की एक बूंद भी उस घट में प्रवेश नहीं कर पायेगी। कारण कि उस घट के अन्दर वायु व्याप्त है। जब घट के मुँह को टेढ़ा किया जायेगा, तो जैसे-जैसे वायु बाहर आयेगी, वैसे-वैसे पानी अन्दर प्रवेश करेगा। कभी-कभी वायु के बाहर आने की बड़-बड़, बुढ़-बुढ़ आवाज भी सुनाई देगी। डॉक्टर जब ग्लूकोज की शीशी ऊपर लटका कर ग्लूकोज के पानी को मनुष्य की नस में चढ़ाना चाहेगा, उस वक्त एक सूई मानव की नस में लगायेगा और उसी जाति की एक सूई ऊपर खुले आकाश की ओर सूई का पीठ भाग रख कर तीक्ष्ण भाग ग्लूकोज की शीशी में लगायेगा। तब ग्लूकोज का पानी मनुष्य की नस में जा सकेगा, अन्यथा नहीं। और तो क्या, शरीर के अन्दर में खून आदि समस्त गति-प्रक्रियाओं में वायु

की अत्यधिक आवश्यकता है। वायु की शक्ति का कार्य शरीर की प्रत्येक प्रक्रिया में अनुभव किया जा सकता है, शरीर में अनेकानेक तत्त्व विद्यमान हैं। आत्मशक्ति सबसे बड़ी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। लेकिन परिपूर्ण विकसित नहीं होने से शरीर-सम्बन्धी प्रत्येक प्रक्रिया का संचालन वायु के माध्यम से करती है, वह संचालन स्वल्प विकसित आत्मा से पूरा विदित हो पाये या नहीं, पर होता वायु के माध्यम से आत्मा के द्वारा ही। इसीलिए कुछ व्यक्ति योगसाधना के बल से शरीरस्थ वायु को प्रमुख रूप से साधने की कोशिश करते हैं, लेकिन सही ज्ञान नहीं होने के कारण हठयोग आदि में उलझ जाते हैं। यदि सही गुरु के सान्निध्य में जीवन की शुद्ध भूमिका के साथ साहजिक योग की साधना के साथ विधिवत् चला जाय, तो वह वायु के महत्व को तथा वायु की सम्यक् नियन्त्रण शक्ति को भी प्राप्त कर लेता है। वैसी दशा में वह साधक आत्मा के सही विकासपूर्वक अनेक महत्वपूर्ण लब्धियों से युक्त हो जाता है। सही साधक संयमी जीवन में जरा भी न्यूनता लानेवाली लब्धियों का प्रयोग इरादतन नहीं करता और जिन लब्धियों के प्रयोग से संयमी जीवन में न्यूनता नहीं आती उनका प्रयोग करता है। लेकिन चमत्कार दिखाने की दृष्टि से या अपना महत्व स्थापित करने की भावना से नहीं। सिर्फ शुद्धिपूर्वक आत्मविकास के लिये उनकी प्रत्येक प्रक्रिया का संधान बन जाता है।

दिनांक 1-7-68

मानव ! तू मन में सोच, मुझे क्या अधिकार कि मैं अन्य पर द्वेष करूँ, मुझे क्या हक कि मैं अन्य पर क्रोधादि करूं, मुझे क्या अधिकार कि मैं पर प्राणियों का प्राणवध करूँ ! मुझे स्वयं को जो कार्य पसन्द नहीं वह अन्य के साथ करना कतई योग्य नहीं। यह अनधिकार चेष्टा है। मैं यदि मानव हूँ, और मुझे मानवता का सात्विक गौरव है, तो सब के साथ समता का बर्ताव करना है यानी यथायोग्य व्यक्ति के साथ यथास्थान व्यवहार रखते हुए स्व-पर के विकास का ध्यान रखना है और मान-अपमान की भाषा में कभी नहीं सोचना है। जो कुछ सोचना, विश्व-कल्याण के साथ आत्मशुद्धि का सोचना मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह किसी भी अवस्था में, कभी नहीं भूलना है। कोई कितना भी कुछ कहे, दबाव दे, तंग करे, सतावे। यहाँ तक कि प्राणान्त कष्ट तक का प्रसंग आ जावे, पर मुझे अपने जन्मसिद्ध अधिकार से अपने मन को जरा भी नहीं खिसकने देना है। यही दृढ़ संकल्प है।

दिनांक 2-7-68

मनुष्य आनन्द का केन्द्र बन सकता है और दु:ख का महासागर भी। दोनों अवस्थाओं का मूल मनुष्य-जीवन है। इस योनि में रहने वाली आत्मा को भलीभाँति सोच लेना चाहिये कि अब कौनसा कार्य करना है। यदि वास्तविक मनुष्यत्व, मनुष्यपन की अवस्था प्राप्त कर जीवन को, सही ज्ञान के साथ विकसित किया, तो यही मानव-जीवन वास्तविक आनन्द का सच्चा केन्द्र बन सकता है। उसके लिये जीवन में बदबू मारने वाली समस्त विकारों की गन्दी नालियों को परिमार्जित करना होगा। सत्यशील-रूप पवित्र जल से उनको धोना होगा। मानव ही नहीं, प्राणी मात्र के प्रति आत्मीयता स्थापित करनी होगी। जीवन के प्रत्येक क्षण को सार्थक बनाने के लिए सत्-पुरुषार्थ का अक्षुण्ण मार्ग अपनाना होगा। आत्मीय प्रत्येक शक्ति की धारा में विवेकशक्तिपूर्वक ज्ञान दूरबीन से सही अवलोकन करना होगा और यह देखना होगा कि किस-किस आत्मीय शक्ति के प्रवाह में कौनसा मलीन कचरा कितनी मात्रा में साफ हुआ और कितनी मात्रा में अभी तक विद्यमान है! किसके पीछे कितना विकास रहा और उस विकास को सुखाने का कितना ताप पहुँचा आदि विषयक निरीक्षण यथासमय करना आवश्यक होगा, ताकि सफलता की शक्ति आगे बढ़ती रहे और जीवन का आनन्दकेन्द्र समीप आता रहे।

दिनांक 7-7-68

अभय की अवस्था जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तब वह अमर हो जाती है। मृत्यु को जीत लेना अर्थात् मृत्यु को मार देना है। अभय, यह कोमल गुण, आत्मा की शक्ति रूप है। उस शक्ति का जन्म विचारों में आता है। वे ही विचार जब परिपक्व बनते हैं, तब उच्चार रूप में अंकुरित होते हैं। आचरण रूप में आ जाने पर झाड़ का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उसी अभयवृत्ति का अभ्यास आहिस्ते-आहिस्ते किया जा सकता है। बड़े रूप में जितना त्याग-प्रत्याख्यान किया जाता है उतना ही वह विकसित होने लगता है। पर वह सही ज्ञान और सही श्रद्धा के साथ आगे बढ़ने पर अपनी आन्तरिक अभय शक्ति को जाग्रत कर सकता है। आन्तरिक अभय-शक्ति सार्वभौम त्यागपूर्वक जीवन की समस्त वृत्तियों को संस्कारित कर लेने पर प्राप्त की जाती है। इसके बिना सिर्फ ज्ञान व श्रद्धा से कुछ विशेष व्यक्त होने की संभावना नहीं रहती। क्योंकि सिर्फ ज्ञान व सिर्फ श्रद्धान पर ही अभय शक्ति का विकास नहीं, वरन् सही ज्ञान और सम्यक् श्रद्धानपूर्वक समस्त जीवन के सही आचरण की पराकाष्ठा पर ही अभय की पराकाष्ठा अवलम्बित है। पर क्रमिक विकासपूर्वक चलने की आवश्यकता रहती है।

दिनांक 9-7-68

आन्तरिक तत्त्वों को देखने के लिये ज्ञान की तीक्ष्णता का होना आवश्यक है। अर्थात् ज्ञान की जितनी निर्मलता बढ़ती है, उतनी ही तीक्ष्णता की स्थिति बनती जायगी। ज्ञान की निर्मलता, जीवन की निर्मल अवस्था पर अवलम्बित है। जीवन को निर्मल बनाने के लिये भौतिक वस्तुओं पर से ममत्व को हटाना आवश्यक है। भौतिक वस्तुओं पर से जितना-जितना ममत्व हटेगा, उतना-उतना जीवन पवित्र बनता जायगा। जीवन पवित्रता का मूल आन्तरिक मानसवृत्त है। उसको व्यवस्थित करने के लिये सच्चे ज्ञान की दशा एवं व्यवस्थित कार्यक्रम होना तथा व्यर्थ की कल्पना का परित्याग, अत्यन्त सादी वृत्ति के साथ समतासिद्धान्त-दर्शनपूर्वक समता जीवनदर्शन का सहज रूप में आना नितान्त जरूरी बन जाता है। इन वृत्तियों को लाने के लिये नियमित अभ्यास का निश्चित समय निर्धारण तथा आन्तरिक ग्रन्थियों को सुलझाने के लिये अभ्यास के समय बारीकी से चित्त की वृत्तियों को पहचानने के प्रयत्न के साथ कठिनाइयों को दूर करने के लिये सही निर्णायक बुद्धिपूर्वक सावधानी रखना। साथ ही उलझी समस्याएँ नहीं सुलझें तो नोट करने का ध्यान तथा योग्य गुरु के पास हल लेते हुए चला जाय, तो आंतरिक तत्त्व सहज ही विदित हो सकते हैं।

दिनांक 10-7-68

जीवन में छुपी शक्ति की अभिव्यक्ति होने पर आत्मा तीनों लोकों की प्रभुता प्राप्त कर सकती है। वह प्रभुता शस्त्रबल, धन-बल अथवा अन्य किसी बाह्य बल से नहीं प्राप्त हो सकती। वह तो आन्तरिक शक्ति के सही विकास पर निर्भर है। आन्तरिक शक्ति अभिमान की मात्रा में दब जाती है। बड़ा से बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, अभिमान उसको भी गिरा देता है। बाहुबली जैसे बलिष्ठ को भी अभिमान ने पछाड़ दिया। जंगल में ध्यान लगाकर खड़े रहने से लताएँ शरीर पर व्याप्त हो गईं। पक्षियों के घोंसले तक का कथन प्रसारित हो गया। पर मन की एकाग्रता भंग नहीं हुई। शरीर ने जरा भी लचक न खाई, नेत्र की पलकें स्फुरित न हो पाईं। कितना कठोर कार्य बाहुबली जी ने शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रक्रिया की साधना में जरा भी कमी नहीं आने दी। पर आन्तरिक अभिमानवृत्ति के कारण त्रिभुवन प्रभुता रूप चरम आत्मीय शक्ति प्राप्त करने में बाधा उपस्थित हो गई। केवलज्ञान उपस्थित न हो पाया, जिस समय सूक्ष्म रूप से रहने वाले अभिमान को नष्ट किया कि तत्क्षण उसी अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त हो गया और त्रिभुवन प्रभुता की विराट शक्ति के स्वामी बन गये। अतः अभिमान का सर्वथा परित्याग भी त्रिभुवन प्रभुता प्राप्ति का एक साधन है।

दिनांक 11-7-68

सर्वथा अभाव की कल्पना संभवित नहीं। किसी वस्तु की अपेक्षा अभाव की स्थिति कही जा सकती है। भावात्मक तत्त्व का विचार करने पर जो सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है, वह तथा उसे प्राप्त करने के साधन मानव के लिये उपादेय हो सकते हैं। उसी श्रेष्ठतम तत्त्व को नित्य-प्रति प्रतिक्षण ध्यान में रखते हुए स्वयं को उसके तुल्य बनाने की दृढ़ श्रद्धा रखते हुए साधन रूप कार्य करने से आगे की ओर बढ़ा जा सकता है।

उस श्रेष्ठतम तत्त्व के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ अवगत होंगे, वे सब प्रायः नाशवान् परिवर्तित होते हुए अनुभव में आयेंगे। उनको सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य के रूप में कभी भी स्थान नहीं देना चाहिये। वे तो यथास्थान जैसे हैं, वैसे ही समझने से यथायोग्य काम में लाये जा सकते हैं। पदार्थों को आवश्यकतानुसार काम में लाना एक बात है और उन्हीं को सर्वेसर्वा रूप से लक्ष्य रूप में स्थापित करना दूसरी बात है। सर्वेसर्वा लक्ष्य के रूप में तो उन्हीं पदार्थों को स्थापित करने की आवश्यकता है, जो सर्वथा शुद्ध, पवित्र, निर्विकार, परिपूर्ण, चरम सीमा को प्राप्त होते हुए स्व-पर-प्रकाश की दिव्य शक्ति के साथ अनन्त वास्तविक सुख व अनन्त शक्ति आदि से सम्पन्न हों। ऐसा भावात्मक तत्त्व ही सदा सर्वदा हितावह हो सकता है। अभावात्मक नहीं।

(अमरावती)

दिनांक 12-7-68

आम व्यक्ति के दिन-रात वैसे ही व्यतीत हो रहे हैं, कुछ करने योग्य किया नहीं जा रहा है। व्यर्थ की कल्पना, व्यर्थ के विचार मस्तिष्क के पटल पर आने जाने से शक्ति का अपव्यय हो रहा है। निद्रा, स्वप्न, जागृति, चिन्ता आदि प्रक्रियाओं में समय बीत रहा है। भव्य चेतन ! इन सभी दशाओं में तुझे सावधानीपूर्वक आगे बढ़ने की आवश्यकता है। इन्हीं दशाओं में तू अनादिकाल से चलता आ रहा है। उनसे ऊपर उठने का सोचा भी नहीं गया। यत्किंचित् सोचा भी गया, तो ऊपरी तौर से। अन्तःस्थल से सोचने का जरा भी प्रयास सही ज्ञानपूर्वक नहीं बन पाया। यही कारण है कि आत्मा का विकास प्रायः अवरुद्ध-सा ही रहा। भव्य प्राणी, अब भी समय है, अवसर है, अवकाश है। जीवन की योग्य दशा है। साधन-सामग्री का अनुकूल योग है वास्तविक ज्ञान का पट खोलने का। क्यों नहीं खोला जा रहा है ? क्यों व्यर्थ में पड़ा हुआ है ? अब तो जग ! अब तो चेत ! अब तो संभल ! जरा सोच, क्या कर रहा है ? बड़े दुःख का विषय है कि तुम्हारा सारा समय व्यर्थ में जा रहा है। कुछ भी सही माने में कर नहीं पा रहा है। कब करेगा ? कब जागेगा, कब चलेगा गन्तव्य स्थान पर ? सही दिशा सामने रखकर सच्चे पुरुषार्थ बल से चल पड़। सफल होगा तुम्हारा दिन-रात।

[अमरावती]
दिनांक 15-7-68

जीवन महान् हैं। पर महानता का विचार कर, विचार मन में ही सीमित न रहकर वचन और काया में यथाशक्ति साकार रूप से परिणत कर ! मन ही की चार दीवारी में उठने वाले विचार जब तक परिपक्व अवस्था को सम्प्राप्त नहीं होंगे, तब तक उनका कोई विशेष मूल्य नहीं बन पायेगा। कच्ची अवस्था में रहने वाली वस्तु प्रारम्भिक स्थिति के यत्किंचित् महत्त्व का अंकन भले ही कर लें, लेकिन जो महत्त्व परिपक्व स्थिति का होना चाहिये, वह नहीं हो पाता। वही दशा वस्तु के अन्दर रहने वाले गुणों की भी समझनी चाहिए। आत्मा भी एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। उसके अनन्त गुण उसी के अन्दर गुण-गुणी-भाव सम्बन्ध से सदा विद्यमान रहते हुए भी दबे हुए हैं। उनका कभी-कभी आत्मविकास के साथ विकास होता रहता है। मानव-जीवन में निर्मलता पाकर या सहसा मानसिक धरातल पर व्यक्त होते हैं। वही अंकुर के समान कच्ची अवस्था कही जा सकती है। यदि उन सद्‌गुणों को उनके योग्य निरन्तर सद्‌सहयोग मिलता रहे तो उसी धरातल पर वे अधिक परिपक्व बनकर वचन-रूप में परिणत होने की योग्यता प्राप्त कर लेंगे। उस योग्यता में अधिक परिपुष्टता का सहयोग रहा, तो काया में परिणति की विशिष्टता आ जाती है। वे ही काया से भी जब अधिक छलकने की स्थिति में होंगे, उस वक्त जीवन की महानता का कुछ दृश्य सामने आ पायेगा।

दिनांक 18-7-68

सूक्ष्म और सही दृष्टि का चिन्तन बड़ा ही विलक्षण होता है और वस्तुस्थिति के पार तक पहुँचाने वाला बनता है। इसके लिए चित्त-वृत्ति की समता आनी आवश्यक है। समता का तात्पर्य सर्वतत्त्व को एकान्तिक रूप से एक सदृश मान लेना नहीं है वरन् समता का अर्थ है प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक अवस्था का भलीभाँति सापेक्ष दृष्टि के साथ वस्तुस्वरूप का अवलोकन करना तथा उसके अन्तःस्थल तक पहुँचकर वास्तविक अवलोकन कर लेने पर निर्णायिक बुद्धि का होना। इस प्रकार की चित्तवृत्ति बनने पर जो भूमिका बनेगी और उस भूमिका की अवस्था से जो चिन्तन प्रारम्भ होगा, वह भूमिका सूक्ष्म पवित्र दृष्टि की बन पायेगी। वहाँ जीवन की सर्वग्रन्थियां यथाशीघ्र सुलझ सकेंगी एवं आनन्द की वास्तविक अनुभूति की दशा प्रशस्त बन पायेगी। फिर तो राजमार्ग-सा कार्य बन जायेगा। मार्ग खोजने की दृष्टि से रुकना नहीं होगा। गति भी तीव्र बन जायेगी। यह कार्य स्थूल दृष्टि से नहीं बन पाता। हाँ, प्रारम्भ में स्थूल बुद्धि भी आगे बढ़ाने में सहायक बन सकती है। अतः यथास्थान सूक्ष्म दृष्टि के चिन्तन की आवश्यकता है।

दिनांक 19-7-68

जीवन की समग्रवृत्तियों का संशोधन, परिमार्जन एवं परिष्करण करने पर ही वास्तविक दिशासूचन मिल पाता है। वृत्तियों को मारने की बात कहना गोया हिंसकवृत्ति को जन्म देने के समान माना जा सकता है और कदाचित् इस वृत्ति की जड़ जम जाय एवं पोषण होते रहने पर यदि पल्लवित होकर वृक्ष के समान रूप धारण कर ले, तो जीवन की अन्य सभी सद्‌वृत्तियाँ प्रायः दब सकती हैं। वैसी स्थिति में जीवन का वास्तविक दिशासूचन होना तो दूर रहा, बल्कि अज्ञान दशा से भ्रमित होकर विषमता की ओर बढ़ना हो सकता है।

वृत्तियों को बाँधना या दबाना भी अधिक समय तक शक्य नहीं। यह कार्य कुछ ही समय तक हो सकता है पर स्थायित्व की अवस्था इसमें भी नहीं बन पाती। वैसी अवस्था में भी इष्टफल की सिद्धि वास्तविक स्थायित्व को प्राप्त नहीं कर सकती। अतः वृत्तियों का संशोधन कर कौनसी वृत्ति का कैसे परिमार्जन करना इस ध्यान के आने पर वे परिष्कृत की जा सकती हैं। वृत्तियों के साथ संयुक्त मैल को धोकर सम्परित्याग करने में उपरोक्त कला भी जीवन में आनी नितान्त आवश्यक है।

जीवन की वृत्तियों को साफ करने की अनेक कलाओं में यह कला भी प्रमुख स्थान रखती है।

दिनांक 26-7-68

जीवन-निर्माण का कार्य स्वयं के सान्निध्य में सम्पन्न होता है। सान्निध्य का तात्पर्य सिर्फ समीपता नहीं, बल्कि स्वयं की कला का प्रयोग करना है। यानी स्वयं की संकल्पशक्ति को इस प्रकार दृढ़ एवं निरन्तर स्थायी बना देना कि जिससे अभीष्ट कार्य यथाशीघ्र सम्पन्न हो सके। किसी भी कार्य में विलम्ब या शैथिल्य उस कार्य की कारण-सामग्री के प्रमुख सूत्रधार संकल्पशक्ति पर निर्भर है। वह संकल्पशक्ति वास्तविक ज्ञानपूर्वक निरन्तर जीवन-निर्माण की परिपूर्ण कारण-सामग्री के प्रत्येक अंग में प्राणस्वरूप बन कर दृढ़, दृढ़तर, दृढतम बन जाय, तो अन्य कोई भी शक्ति उसमें बाधक नहीं बन सकती। बाधकता प्रायः संकल्पशक्ति की कमजोर अवस्था पर ही कामयाब हुआ करती है। बाधकता की शक्ति वहीं सफल हो सकती है, जहाँ संकल्पशक्ति के सदस्य इतस्ततः अलसित हों। मानव अपनी उस महत्वपूर्ण शक्ति को व उसके सदस्यगण की महत्ता को प्रायः समझ नहीं पाता। फलस्वरूप निर्माण-कार्य में बाधाओं के विचित्र रंगरूप से प्रायः हर क्षण वृक्ष के पत्ते की तरह प्रकम्पित होता रहता है। इससे अशांति के काले बादल सर्वत्र मण्डरा जाते हैं और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता का बोलबाला तथा उत्साहहीनता की जञ्जीर निर्माण-कार्य में बाधक बनती रहती है। अतः सदा-सावधानी की आवश्यकता है।

दिनांक 29-7-68

सदा आनन्द-विभोर रहना चाहिए। इस संसार को खुला प्लेट-फार्म कह सकते हैं। इस पर सबको आने का अधिकार है। यानी इस पर सभी आते और चले जाते हैं। यह किसी का हुआ नहीं, और होगा भी नहीं। इसके अन्दर सब तरह के विषय विद्यमान हैं। सभी तरह के पदार्थ उपस्थित हैं। सभी शक्तियाँ सदा-सर्वदा बिखरी पड़ी हैं। चतुर पुरुष कुछ बटोरता है, संग्रह करता है, उसमें जो वस्तुतः उस पुरुष की निजी है, वह उसके पास सदा-सर्वदा रहता है और जो संयोग सम्बन्ध से उसका बनता है, वह कुछ समय उसके पास रहता है। वह यदि उसका सदुपयोग कर काम में ले लेता है, तो वह संसार में चमक जाता है और सदा-सर्वदा प्रसन्न बना रहता है। उसको दुःख का सामना नहीं करना पड़ता। उसे दुखित होने का कभी प्रसंग नहीं आता। पर जो संयोग की वस्तु को अपनी ही समझकर ममत्व रखता है, वह न कुछ कर सकता है, न ठीक खा सकता है, न शान्ति से जीवन व्यतीत कर सकता है। उसका जीवन दुःखादि से सदा दुःखित बना रहता है। एक दृष्टि से जीवन जीवन न रहकर दुःख का स्थान बन जाता है तथा वह एक प्रकार से इस संसार का कीड़ा बन कर रह जाता है। अतः विवेकी आत्मा को इस विश्व का तथा विश्वगत पदार्थों का भलीभाँति विज्ञान सम्पादन कर मस्तीपूर्वक सर्वसंयोगी दशाओं से ऊपर उठकर आनन्द-विभोर रहना चाहिए।

दिनांक 1-8-68

मोह-दशा का विषयदृश्य सामने आता रहता है, उस दृश्य के आने से जीवन की वास्तविक अवस्था का विज्ञान किया जा सकता है। अन्तर्चेतना का परिमार्जन करते हुए द्रष्टा बन जाने पर वे सब दृश्य यथावस्थान समस्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। आत्मा अपनी निजी शक्ति को ऐसी अवस्था में यदि सम्भाल पाती है, तो उसने अपनी समग्र शक्तियों के द्वार को सम्भाल लिया। दृश्यों के उपस्थित होने पर वचन और काया को भी यदि नहीं रोक पाया तो उसकी आत्मीय शक्ति अति ही कमजोर समझनी चाहिए।

ऐसी आत्मा को अपना आध्यात्मिक इलाज कराने की आवश्यकता है। कारण कि इतनी कमजोर आत्मा ऊपर की ओर न चढ़कर प्रायः नीचे की ओर ही फिसलेगी। एक स्थान से फिसलने पर वह कहाँ जाकर रुक पायेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसी आत्मा पर अधिक दया कर उसकी अत्यधिक रक्षा करने की आवश्यकता है। जिस भी अवस्था में वह आत्मा है, उस अवस्था का विचार कर आध्यात्मिक चिकित्सक के पास पहुँच कर शक्तिवर्धक इलाज कराना चाहिए, ताकि वह सदा के लिए मंगलमय बन सके।

दिनांक 5-8-68

ब्रह्मचर्य के वास्तविक परमार्थ को यदि सन्मुख रखा जाय, तो जीवन का नक्शा कुछ और ही बन सकता है।

शरीर से निकलने वाला वीर्यप्रवाह निष्कारण नहीं होता। उसमें कारण अनेक हो सकते हैं। पर मुख्य कारण दो होते हैं। एक विचार और दूसरा वय यानी शरीर की अवस्था-विशेष।

इन दोनों में भी विचारों की ही प्रमुखता मानी जा सकती है। क्योंकि विचारों के भी संक्षिप्त में दो रूप रहते हैं, जिनको ज्ञात और अज्ञात के नाम से भी पुकारा जा सकता है। उनमें से, यानी ज्ञात और अज्ञात विचारधाराओं में से, किसी भी अवस्था में अब्रह्मचर्य की ओर मुड़ने पर वीर्य पदार्थ के स्खलित होने का प्रसंग प्रायः बनता है। यद्यपि विचारों के मोड़ में अनेकानेक कारण हैं, पर उनमें भी शरीर के अवयवों की एक अवस्था विशेष को प्रबल कारण कहा जा सकता है। जिससे विचारों का मोड़ प्रायः बन जाया करता है।

दिनांक 28-3-69

शारीरिक अवस्था को व्यवस्थित रखना भी आत्म-शक्ति पर निर्भर है। यद्यपि पौद्गलिक कार्य पदार्थ के अन्दर विचित्र स्वभाव बनता है, तथापि उस स्वभाव का समय पर परिपाक भी होता है। उस परिपाक के फलस्वरूप विचार आदि अवस्थाओं पर असर भी हो सकता है। लेकिन उस वक्त या उस परिपाक के पूर्व ही विचारों का पुट दिया जाय, तो पदार्थों के पूर्व रस में परिवर्तन आ सकता है। जिस भी अवस्था के विचार परिपक्व होंगे, उसी अवस्था में पदार्थों का परिवर्तन किया जा सकता है। अर्थात् इस विराट् विश्व में आत्मीय शक्ति सर्वोपरि है। उसका मोड़ सही दिशा की ओर हो, तो समग्र वायुमण्डल में इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है।

इस शक्ति का सही अनुभवकर्त्ता स्वयं के शरीर में व्याप्त वीर्य नाम के धातु को स्खलित नहीं होने देकर अन्य शक्ति में परिवर्तित कर देगा। स्खलित होने देना या नहीं, इसका नियंत्रण आत्मीय शक्ति पर निर्भर है।

आत्मीय विशेष शक्ति के जाग्रत नहीं होने तक ही अन्य शक्तियाँ अपना-अपना कार्य कर गुजरती हैं और वे विभिन्न प्रकार की हो जाने से विभिन्नता पैदा कर देती हैं। यही अवस्था प्रायः प्राणि-वर्ग में चल रही है।

दिनांक 29-3-69

मानसिक वृत्ति की समग्र धाराएँ यदि अब्रह्मचर्य की ओर जरा भी न झुकें और वास्तविक निर्धारित कार्य में निरन्तर संलग्न बन जायँ तो यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्रव्यवीर्यरूप धातु की परिस्खलना नहीं हो पाती। क्योंकि द्रव्यवीर्यरूप धातु की परिस्खलना भाववीर्यरूप आन्तरिक-आभ्यन्तरी शक्ति पर निर्भर है।

भावरूप आभ्यन्तरीय शक्ति अपने समग्र परिवार के साथ जिस भी कार्य में निमग्न होगी, उसी कार्य की साधिकारूप अन्य भौतिक शक्ति में द्रव्यवीर्यरूप धातु व्याप्त होती रहेगी। यानी भावरूप आभ्यन्तरीय वीर्यशक्ति से द्रव्यरूप वीर्य नामक धातु को परिवर्तित, परिवर्धित, संक्रमित, रूपान्तरित आदि अनेक अवस्थाओं में संस्थापित किया जा सकता है। बशर्ते कि इस प्रकार की सही विधि समग्र पहलुओं से ज्ञात कर सही दृढ़तर अत्यन्त विश्वसनीय संकल्पपूर्वक निरन्तर अभ्यास में लाई जाय।

यह कार्य मानवीय जीवन की सही दिशा की निर्मल परिस्थिति में शक्य किया जा सकता है। अशक्य स्थिति की कल्पना निराधार है।

दिनांक 30-3-69

मानव-जीवन में सर्वशक्ति सम्पन्न बनने के साधन बीजरूप में विद्यमान रहते हैं। विलपावर (आत्मशक्ति) के अनुपात से विकसित होने का चांस रहता है। आत्मशक्ति का मोड़ दृढ़तर आन्तरिक लक्ष्य के अनुकूल प्रायः बन जाया करता है। आन्तरिक शक्तियाँ जिस कार्य के लिए अत्यन्त तन्मयता के साथ संयुक्त बन जाती हैं, प्रायः शरीर के महत्त्वपूर्ण अंग भी अपने-अपने स्थान पर रहते हुए, उसी कार्य के संपादन में सहयोगी बनते हैं। उस वक्त शारीरिक रस-ग्रन्थियाँ अपने-अपने स्थान में उसके अनुरूप रस-संचय में संलग्न बनती हैं। उस रस के स्राव से भोजनादि की अवस्था में रासायनिक प्रक्रिया बनती रहती है, जो कि शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में रसादि रूप में जो धातुओं की अवस्था परिगणित है, उनमें विलपावर के अनुरूप कार्य-साधिका की शक्ति उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार व्यवस्था निरन्तर रूप से बढ़ती रहे, तो धीरे-धीरे मानव-शरीर में सर्वशक्ति समूह का अवस्थान व्यक्त होते हुए बीज-वृक्ष का रूप धारण कर सकता है। यानी किसी भी शक्ति के लिए परमुखापेक्षी न रहकर स्वयं वही अन्यों को शक्ति-प्रदान-विधि के रूप में विधाता साबित हो सकता है। अतः मानव-जीवन में रही शक्तियों को सावधानी के साथ विकसित करने की आवश्यकता है।

दिनांक 3-4-69

आन्तरिक मानस की स्थिति प्रतिक्षण परिवर्तनशील कही जा सकती है, क्योंकि प्रतिक्षण परिवर्तनशील विषय सामने आता रहता है और विषय के परिवर्तन से विषयी भी परिवर्तन-स्वभाव वाला बनता रहता है। इससे दीर्घकाल तक आन्तरिक अवस्था भी स्थायित्व को प्राप्त नहीं हो पाती। यह भी एक कारण है कि परिवर्तनशील जीवन को एक ही रूप में दीर्घ काल तक रोका नहीं जा सकता। हाँ, रूपान्तरण के माध्यम से सुदीर्घकाल तक बनाया जा सकता है। पर वह कला सही रूप में आन्तरिक मानस में आनी चाहिए। विचारों के केन्द्र की किरणें अन्तर्-मानस में व्याप्त रहती हैं, उन्हीं की बदौलत परिवर्तनशील आन्तरिक मानस की समग्र हलचल व्यवस्थित रूप से सक्रिय रहती है। रूपान्तरित होने पर भी प्रायः सादृश्य अवस्था परिलक्षित होती है। इससे कभी भ्रमित भी बना जा सकता है।

साधारण बुद्धि इन सूक्ष्म प्रक्रियाओं को समझने में प्रायः कामयाब नहीं हो पाती। तीक्ष्ण बुद्धि में भी जिनका लक्ष्य बाह्य विषयों की ओर है, वह भी इन आन्तरिक प्रक्रियाओं में सफल नहीं हो पाती। पर जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि का विषय आन्तरिक हो और उसमें भी आन्तरिक मानस को छूने का अधिक, वह तीक्ष्ण बुद्धि इस प्रकार की आन्तरिक प्रक्रियाओं को समझने में सक्षम बन सकती है। इस प्रकार के विषय को समझने वाली तीक्ष्ण बुद्धि को उद्बोधित करने के लिए स्वतन्त्र रूप से इस क्षेत्र से सम्बन्धित व्यवस्था को अभ्यस्त बनाने की आवश्यकता है।

दिनांक 4-4-69

आत्मा की मौलिक अवस्था प्राप्त करने के लिए स्वयं को ही अधिक देखना पड़ता है। वास्तविकता बाहर से विकसित नहीं होती, विकास का मूल स्रोत अन्दर से ही प्रवाहित होता है। अन्दर से जाग्रत मानस बाह्य उपकरणों की मदद ले सकता है। बाहर जो कुछ है, वह सब अन्तरदृश्य के अनुरूप बनने को तत्पर है। चाहिए उसके योग्य प्रक्रिया, वह प्रक्रिया अन्दर में ही विद्यमान है। उसको समझने के लिए अन्तरमानस में रही विषयवासना को समूल नष्ट करना, तीक्ष्ण निरीक्षण के साथ आचरण को दृढ़तर बनाना, दुश्मन के प्रति भी समभाव रखना होगा। दुश्मन की वासना ही अन्तर-मानस में नहीं आने देना, पूर्व की वासना को साफ बना देना, आदि के लिए सतत् प्रयत्नशील बनना, मानस में सतत् जाग्रत रहना, वास्तविक अवस्था के समीप जाना है।

दिनांक 1-5-69

यह विशाल विश्व अपने-आप में परिपूर्ण है। इसमें किसी भी अवस्था की प्राप्ति परिपूर्ण मात्रा में की जा सकती है।

विभिन्न तत्त्व यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। किसी की भी कोई इन्कारी नहीं। न किसी प्रकार के बाह्य ताले आदि के बन्धन ही हैं। विधि के साथ कार्य में न कोई रोक सकता है, और न रोक लगती है। पर आन्तरिक बन्धन से युक्त व्यक्ति के लिए सब तरह के बन्धन, सब तरह की रुकावटें प्रतिक्षण विद्यमान रहती हैं तथा प्रायः सर्व प्रकार की अवरुद्धता उपस्थित होती है। अतः आत्मा की स्वयं की शालीनता कदापि विस्मृत नहीं होनी चाहिए और न हतोत्साह होकर आलस्य में सोना चाहिए।

इस रहस्यमय विश्व के अनावरण के लिए वर्तमान मानव-भव ही समर्थ हो सकता है, अन्य भव नहीं। इसके लिए पूर्ण सावधानी की आवश्यकता है।

दिनांक 7-6-69

सर्व प्राणियों की गति एक-सी नहीं होती, न एक-सी गति बनाई जा सकती है। जिसको जितना साधन-सामर्थ्य सामग्री के रूप में उपलब्ध होता है, वह उतना कार्य-सम्पादन कर सकता है। गति का अर्थ सिर्फ शरीर से चलना मात्र नहीं है, वरन् शारीरिक, मानसिक, वाचिक, आत्मिक व आध्यात्मिक आदि समग्र परिस्पन्दन विकास के रूप में है। समग्र समर्थ करण सामग्री की विश्व में कमी नहीं है, लेकिन कमी है सही विधि के साथ दृढ़तम विश्वास की। उस विश्वास का सही सम्पादन हर प्राणी में हर वक्त एक साथ नहीं बन पाता। अतः एक साथ सब प्राणियों की एक-सी गति नहीं हो पाती। जिनकी भी गति जितनी मात्रा में बने, वह यथाशक्ति, यथावकाश, यथासम्भव सहयोग की पवित्र भावना रखे, लेकिन अन्य प्राणियों की न्यूनाधिक गति देखकर स्वयं की अवस्था में जरा भी विषमता का प्रवेश न होने दे। इसका पूरा ध्यान रखना तथा अन्य सब विषयों को तटस्थ भाव से गौण बनाकर मुख्य रूप से स्वयं को सही विधिपूर्वक निर्माण-कार्य में संलग्न करना नितान्त आवश्यक है।

दिनांक 13-6-69

जीवन-निर्माण में भय का परित्याग भी अत्यावश्यक है। भय एक मानसिक अवस्था-विशेष है, जो चित्त की दोलायमान स्थिति है। चित्त को दोलायमान बनाने में अनेक निमित्त बन सकते हैं। उनमें से कुछ तो व्यक्त रूप में ज्ञात हो सकते हैं; यथा सिंह, सूर्य, भूकम्प, आदि। कुछ को व्यक्त न होकर अव्यक्त अवस्था में होने से जन-साधारण समझ नहीं पाते, बल्कि उन भयजनक निमित्तों को अभय के निमित्त समझने की बहुत बड़ी भ्रान्ति कर बैठते हैं, जिसके परि-णामस्वरूप चित्त की मूढ़ अवस्था भी बन सकती है। इसके निमित्त बाह्य और आभ्यन्तर भी रहते हैं। बाह्य में तो सत्ता, सम्पत्ति, कान्ता, परिजन, वायुमण्डल, आदि हैं।

आभ्यन्तर में मूढ़ एवं विक्षिप्त अवस्थाजनक मादकदशा असत्य, अहंकार, यश-लिप्सा, लोभ आदि हैं। इस प्रकार अनेकानेक कारणों से चित्त-चंचलता रूप भय की स्थिति बनती है। इसका उन्मूलन किये बिना निर्माणात्मक जीवन अवस्था सही माने में नहीं बन पाती। एतदर्थ आभ्यन्तर भय के कारणों को भलीभांति विदित कर यथा-शक्ति परित्याग की ओर बढ़ना नितान्त आवश्यक है।

दिनांक 21-6-69

वर्त्तमान समय में जिसको मानव तन का साधन उपलब्ध है, उसे उस उपलब्धि को सार्थक बनाने का भरसक प्रयत्न करना आवश्यक ही नहीं, अत्यावश्यक है। क्योंकि अन्य साधनों की उपलब्धि यदा-कदा प्रायः सहज ही हो सकती है, पर मानव तन की अवस्था सहज नहीं मिल सकती। उसमें भी विवेक जागृति का संयोग अति ही दुःस्वार है। अतः प्रतिक्षण विवेक-दीपक का प्रज्वलित रहना तथा उसके भव्य-आलोक में विकास के बीज देखना आवश्यक है।

आन्तरिक आलोक में कृत्रिम संज्ञाओं, परिभाषाओं तथा पदार्थों के नक्शों के जो अंकन मस्तिष्क में व्याप्त हैं, उन सबको इधर-उधर व्यवस्थित करने की कला आनी चाहिए। वह कला भूमिकापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। भूमिका से तात्पर्य उस सही ज्ञानपूर्वक सही आचरण से है, जिसमें मानव-तन का सम्पूर्ण रूप से सही आन्तरिक विकासार्थ समर्पण कर दिया जाय। यह समर्पण सिर्फ एक, दो या चार, आदि व्यक्तियों की सेवा के लिए ही न होकर समग्र छोटे-बड़े प्राणी वर्ग की सेवा के लिए हो, ताकि स्वयं से अन्य प्राणियों का भी सही ज्ञान के साथ संवेदन किया जा सके। प्राप्त समस्त मानव संरक्षणार्थ पदार्थों का भी स्व शुद्धयर्थ संपरित्याग में आस्था हो तथा यथाशक्ति, यथास्थान, यथायोग्य संवितरण की अवस्था हो। स्वयं के मानवतन-संरक्षणार्थ जितने अन्नादि, वस्त्रादि की आवश्यकता हो, उसके तथा अतिआवश्यक ज्ञानादि के साधन-सामग्री के अतिरिक्त कुछ भी स्वयं के अधीन न रखा जाय।

दिनांक 28-6-69

जीवन को एक रहस्यमय विज्ञान माना जा सकता है। इस रहस्य का उद्घाटन होना असम्भव नहीं, पर अत्यधिक कठिन प्रयत्न-साध्य है। कारण सामग्री की कमी नहीं, लेकिन समर्थ कारण सामग्री नियोजित करना आवश्यक है।

दिनांक 22-6-70

आत्मन् ! अमरता की चाबी तेरे पास है। तू उसे पा ले। असावधानी मत रख। साधन का वास्तविक सदुपयोग कर। जो साधन उपलब्ध है, उसको व्यवस्थित रूप से नहीं संभाला अथवा उस विशेष विज्ञानमय प्रक्रिया का सही माने में उपयोग नहीं किया, तो अवसर निकल जायगा। फिर क्या कर पायगा। अतः अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। समय चूकने पर पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बन पायेगा।

दिनांक 24-6-70

विश्व विराट शक्तियों का केन्द्र है। सभी प्रकार की सभी शक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। जो भी व्यक्ति, जिस भी शक्ति को प्राप्त करना चाहे वह खुशी से प्राप्त कर सकता है। उसको रोकने वाला कोई भी सत्ताधीश व्यक्ति नहीं है। हाँ, बाधाएँ आ सकती हैं, पर उनको तो धैर्य और विवेकपूर्वक दूर किया जा सकता है।

दिनांक 25-6-70

ऊर्जा दो प्रकार की है। एक भौतिक, दूसरी आत्मिक। भौतिक ऊर्जा के लिए सर्वत्र प्रयत्न प्रचलित हैं, लेकिन आत्मिक ऊर्जा का अत्यधिक स्वल्प प्रयत्न किंचित् ही परिलक्षित हो पा रहा है। कारण कि उसकी सत्ता के प्रति पूर्ण निष्ठा प्रायः नहीं है। निष्ठा के बिना उसकी ओर प्रयत्न बनना कठिन है।

दिनांक 2-7-70

आध्यात्मिक शक्ति को संपादन करने के लिए आन्तरिक वृत्तियों का परिमार्जन करना आवश्यक है। आन्तरिक वृत्तियों का विज्ञान करने के लिए सतत् साधनापूर्वक तत्सम्बन्धी विज्ञान अर्जन किया जाय, साथ ही योग्य व्यक्ति का सम्पर्क एवं तीव्र जिज्ञासा व दृढ़ संकल्प भी अति जरूरी बन जाता है।

दिनांक 12-7-70

प्रत्येक प्राणी का स्वभाव विभिन्न पाया जाता है। एक जीव जिह्वा से उच्चरित शब्दों के वातावरण में रहना पसन्द करता है। अन्य शाब्दिक कोलाहल से दूर रहना पसंद करता है, पर यदि वह आन्तरिक साधनरत है, तो आन्तरिक कोलाहल सुनने लग जाता है। आन्तरिक कोलाहल तो वाह्य कोलाहल से भी अधिक जटिलता को लिए हुए होता है। उस अवस्था में बाह्य तो कुछ भी सुनाई नहीं देता और आन्तरिक श्रवणधारा प्रवाह से निरन्तर सुनाई देने लगती है। ऐसी दशा में साधक अत्यधिक विचक्षण हो, तब तो उस आन्तरिक निरन्तर श्रवण से ऊपर उठकर निष्कर्ष निकाल पायेगा। वरना उसी में उलझ जायेगा। तुष्टि के बजाय अतुष्टि होगी और उद्विग्न बन जायेगा। जब भी पुनः शाब्दिक कोलाहल में लौटेगा तब अति नीरव शान्ति का अनुभव होगा। क्योंकि शाब्दिक कोलाहल निरन्तर एक-सी ध्वनि में नहीं होता, पर इस बाह्य वातावरण में भी वास्तविक शान्ति तो प्रायः नहीं के तुल्य रहती है। इसमें प्रायः सारी दुनिया गोता खा रही है तथा आन्तरिक तथ्य को सही रूप में समझना अशक्य-सा बना हुआ है।

दिनांक 20-11-71

आन्तरिक ध्वनियों को पहचानने का विज्ञान प्राप्त करने पर साधक, उन ध्वनियों से भी ऊपर उठ जाता है। वैसी अवस्था में ही अन्तरालोक का प्रारम्भ बन पाता है। इसके पूर्व विचित्र ध्वनियों के सामूहिक झंकार में अन्य कुछ करने में सक्षम नहीं बन पाता। पूर्व के योगियों ने आन्तरिक सामूहिक ध्वनियों के झंकार को अनाहत नाद की संज्ञा दी है। कुछ साधक तो इस नाद तक ही तुष्टि मान-कर वहीं रुक जाते हैं। वे उसी में अपनी पूर्ण सफलता समझने लगते हैं। कुछ उससे ऊपर उठने की कोशिश करते अवश्य हैं, पर आन्त-रिक ध्वनियों का विज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। कारण कि उनका ध्यान ध्वनियों के विचित्र रूप को समझने के बजाय अन्य विषय की तरफ आकर्षित हो जाता है जिससे ध्वनियों का विषय छूट-सा जाता है। वह मन की अमुक विषय में एकाग्रता साधते उसी में रुक जाता है।

इस प्रकार अनेक साधक समय और शक्ति का व्यय भी कर डालते हैं, पर वास्तविक स्वरूप उपलब्ध नहीं कर पाते हैं। जीवन का महत्त्वपूर्ण विषय व्यर्थ में चला जाता है। अतः आन्तरिक सही विज्ञानपूर्वक साधना आवश्यक है।

दिनांक 22-11-71

वास्तविक स्वरूपोपलब्धि के लिए सर्वांगीण विज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। सही विज्ञान सिर्फ बौद्धिक ही नहीं, निष्ठापूर्वक सच्चे आचरण के साथ पैदा होनेवाला आन्तरिक अनुभव-विज्ञान भी है।

उपर्युक्त आन्तरिक विज्ञान के बिना सिर्फ बौद्धिक विज्ञान एक प्रकार की कला है। ऐसी कलाएँ अनेक वक्त प्राप्त हुई, होती हैं और होंगी, पर वास्तविक अभीष्ट-सिद्धि नहीं बन पाई, न बन पाती है और न बन पायेगी।

दिनांक 23-11-71

मानव की कोशिकाएँ विचित्र संस्कारों से युक्त बनी हुई हैं। समय-समय पर उनमें विभिन्न-विचित्र संस्कारों का परिवर्त्तन, बनना-बिगड़ना, आदि प्रक्रिया भी चालू रहती है। कमजोर मन इन पर पूरा नियंत्रण नहीं कर पाता, पूरा नियंत्रण नहीं बनने से कोशिकाओं के यथेष्ट परिवर्तन में अन्तर नहीं आता और उनके अनियंत्रित परिवर्त्तन होते रहने से किसी भी अभीष्ट कार्य में इच्छित फल की उपलब्धि नहीं हो पाती। इच्छित फल के अभाव में मानसिक हीनभाव एवं मानसिक वृत्तियों के बिखरे रहने की दशा प्रायः चालू रहती है। इससे मानव-जीवन की महत्त्वपूर्ण विशिष्ट शक्तियाँ व्यर्थ ही अस्त-व्यस्त बन कर नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार आत्मा के माध्यम की दुर्दशा होने से आत्मा न स्वयं की उपलब्धि कर पाती है और न अन्य को ही समझ पाती है।

दिनांक 24-11-71

वंश-परम्परा से किसी का मन मजबूत है, तो समझना चाहिए, उसकी कोशिकाएँ भी व्यवस्थित, सुस्थिर एवं दृढ़ हैं। उनमें सहसा परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। उनमें परिवर्तन लाने के लिए विशिष्ट अभ्यास एवं विशिष्ट विज्ञान की आवश्यकता रहती है। क्योंकि परिवर्तन पहले मन में आता है, फिर कोशिकाओं में। मन में यदि परिवर्तन नहीं आया, तो कोशिकाओं पर कुछ भी असर होने वाला नहीं है। क्योंकि उनकी चाबी मन के पास है। अतः अपेक्षाकृत दृढ़ मन पर असर लाने के प्रयत्न दोनों तरह के हो सकते हैं। अच्छे और बुरे। अच्छे से अच्छा और बुरे से बुरा प्रभाव पड़ता है।

एक वक्त किसी तरह का प्रभाव मन पर होगया और उसने कोशिकाओं की चाबी ढीली कर दी, तो फिर कोशिकाओं का परिवर्तन चालू हो सकता है। उनके परिवर्तन का प्रभाव मन पर भी पड़ता है और वह भी उनके अनुरूप अपने अवस्थान को अच्छे या खराब रूप में बदलता है। ये प्रक्रियाएं कभी-कभी पदार्थों के स्वभाव से भी बनती हैं, क्योंकि कुछ पदार्थ ऐसे असरकारक होते हैं कि उनके सहवास में कोशिकाएं शिथिल बनती हैं और उस शिथिल दशा में जो परिवर्तन आता है वह परिवर्तन मन को प्रभावित कर सकता है।

(बुधवाड़ा अजमेर)

दिनांक 25-11-71

वैज्ञानिक खोज के अनुसार कोशिकाएं, क्रोमोसोम, जीन आदि शरीररचना के महत्त्वपूर्ण अंगों—स्कन्धों के पर्यायवाची नाम कहे जा सकते हैं। इनकी एक के अन्दर एक गहन रचना बन जाती है।

सामान्य विकास में ही जनसम्पर्क अधिक विकसित हो जाने पर विकासमान के पूर्व विकास की न्यूनता एवं भावी विकास में अवरुद्धता स्वाभाविक-सी है। क्योंकि न्यून स्तरीय दृष्टिकोण बन जाता है, उसमें विकास का शिथिल होना अधिक सम्भव है तथा अभिमान की मात्रा बढ़ जाना भी सम्भवित है। सोचने की गति बदल जाती है। वह सोचने लगता है कि मेरे समकक्ष अन्य कोई है ही नहीं। दुनिया की अधिक बुद्धि मेरे पास है। अन्य सब जगत में मेरे से न्यून है। इस प्रकार का सोचना ही भावी विकास को अवरुद्ध बनाना है।

(जयपुर)

दिनांक 23-2-72

जब तक शुद्ध विचारों में विचारों का प्रवाह व्यय होता रहेगा, तब तक विश्वविलोकनीय दिव्य विचारों का संचय नहीं हो पायेगा। क्योंकि विचारप्रवाह के कई रूप हैं—एक विचार व्यर्थ के कार्यों में लगता है—इसने यह बोला, उसने यह बोला, इसमें मेरा अपमान हुआ, इसने मेरा सत्कार किया, यह मेरा हित करने वाला है, यह अहित करने वाला है, इत्यादि निष्कारण विचारों की आँधी में उड़ता रहता है। न वस्तुस्वरूप को समझता है, न तथ्य का विज्ञान प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में बहुमूल्य विचारशक्ति व्यर्थ में खर्च हो जाने से वास्तविक कार्य के लिये शक्ति अवशेष नहीं रह पाती, उस शक्ति के अभाव में जीवन व्यर्थ ही इधर-उधर के प्रवाह में बह जाता है।

(इन्द्रगढ़)

दिनांक 6-5-72

जीवन की विशेषता शक्ति संचय में है। शक्ति के दो रूप हैं बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य शक्ति भौतिक सत्ता और शक्ति के रूप में है। आभ्यन्तर शक्ति आध्यात्मिक सत्ता और शक्ति के रूप में है। बाह्य शक्ति के संचय में आभ्यन्तर शक्ति बिखरती है। यह कार्य अनादि-काल से चल रहा है। इससे अनेक जीवन बने और बिगड़े। ऐसी प्रवृत्ति में कोई विशेषता जैसी बात नहीं है। यह तो प्रायः सभी प्राणी न्यूनाधिक मात्रा में करते रहते हैं।

जीवन की वास्तविकता एवं विशेषता इस बात में है कि बाह्य शक्ति यानी भौतिक सत्ता सम्पत्ति को बिखेरे अर्थात् यथास्थान, यथा-योग्य संवितरण करे–विसर्जन में व्यय करे। आभ्यन्तर शक्ति आध्या-त्मिक सत्ता-सम्पत्ति संचय करे। दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्ष में रही हुई हैं अर्थात् एक के संचय में दूसरी का संपरित्याग अत्यावश्यक बन जाता है। अतः बाह्य शक्ति के संपरित्यागपूर्वक आभ्यन्तर शक्ति का संचय करना ही जीवन की विशेषता है।

(इन्द्रगढ़)

दिनांक 8-5-72

विचारों की दुनिया विचारों को विदित नहीं कर पा रही हैं। विचार ही जीवन का मूल स्रोत है। इन्हीं के आधार पर जीवन का निर्माण या संहार बनना या बिगड़ना होता है।

विचारों की जड़ों में से ही अमृत या जहर बनता है। इस विराट् विश्व में विचारों का विभिन्न वैचित्र्य विभिन्न रूपों, प्रकारों, कार्य-कलापों आदि के रूप में परिलक्षित हो रहा है। पर आश्चर्य इस बात की है कि मूल तथ्यों को समझा नहीं जा रहा है।

ऊपरी-ऊपरी परत को ही सब कुछ समझ लिया गया। उसी के ऊपर प्रायः समस्त मानव वर्ग तैर रहा है और मान रहा है कि सब पा लिया गया है। पर वस्तुस्थिति यहीं तक सीमित नहीं है। यह तो एक छोर है, कुछ अंश है। अन्य सभी अंश रहस्यमय गुफा की तह में सन्निहित हैं। उनकी तरफ दृष्टि नहीं जाने से जीवन की उलझनें बढ़ती जा रही हैं। जो भी यह बोलते हैं कि हम सुलझ गये वे प्रायः अधिक उलझे हुए हैं। जीवन की वास्तविक गुत्थी सुलझे बिना उलझनें समाप्त नहीं हो सकतीं। अतः मूल स्रोत के रहस्य की ओर बढ़ना नितान्त आवश्यक है।

(बाली)

दिनांक 9-5-72

शक्ति-संचय के पहले शक्ति-परीक्षण आवश्यक है। शक्ति-परीक्षण का तात्पर्य शक्ति पहचानने से है। रत्नसंचय के पूर्व रत्न-पहचान-रूप परीक्षण आवश्यक बन जाता है। पत्थर और रत्न दोनों का ज्ञान जब तक नहीं बनेगा तब तक व्यक्ति रत्नसंचय भी नहीं कर पायेगा।

आध्यात्मिक शक्ति रत्न से भी अतिशय महत्त्वशाली है। उसकी पहचान अन्तर में ही हो सकती है। अन्तर में पत्थर के समान कई वृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। उनका विज्ञान भी आवश्यक है।

अन्तर में रहने वाली अनेक वृत्तियाँ आन्तरिक शक्तियों की तरह प्रतिभासित होती हैं। लेकिन उनका निखालस रूप ज्ञात नहीं हो पाता। वे अन्यान्य विषयों के रंगों से ओत-प्रोत रहती हैं। उन रंगों की चमक शक्ति की वास्तविकता को छिपा देती है। जैसे कांच की चमकयुक्त पत्थर रत्न का आभास कराते रहते हैं, वैसे ही आन्तरिक शक्तियों की अवस्था बनती रहती है। अन्तर में रहने वाली तमाम अवस्था का सूक्ष्मता से अवलोकन होने पर उनकी विभिन्न चमक तथा असली और नकली दशाओं की सही तरीके से पहचान हो सकती और आध्यात्मिक शक्ति संचयों का कार्य अतीव सुलभ बन सकता है।

(चौथ का बरबाड़ा)

दिनांक 15-5-72

सदा पवित्र विचारों का सिलसिला उच्चतम, प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ चलते रहने पर जीवन की अवस्था उसके अनुरूप ढल जाती है।

जीवन में श्रद्धा मूलाधार है। श्रद्धा के मूल पर जीवन की भव्य मंजिल बनी हुई है। एक दृष्टि से जीवन-वृक्ष का मूल ही श्रद्धा है। जैसा-जैसा विचार-प्रवाह श्रद्धापूर्वक बनता है, वैसा-वैसा उसके जीवन-निर्माण का कार्य बनने लगता है।

विचार श्रद्धा के साथ है, तो उसका जीवन कम-से-कम उत्तम मनुष्यरूप में बन सकता है। अमध्यम अवस्था को श्रद्धा पूर्ण विचारों से देवरूप जीवन की दशा बन जाती है।

उत्कृष्ट श्रद्धापूर्वक विचारों का प्रवाह निरन्तर वर्धमान गतिमय चरम सीमा पर पहुँचने पर उत्कृष्ट जीवन की परम पवित्र दशा का निर्माण कर देता है।

कम-से-कम के और उत्कृष्ट के मध्य सुश्रद्धापूर्वक विचार भी भिन्न-भिन्न रूप में पाये जाते हैं। तदनुसार जीवन-स्वरूप भी वैसा ही बनता जाता है। अतः अपेक्षाकृत मध्यम जीवन अनेक तरह का बन जाता है।

(चौथ का बरवाड़ा)
दिनांक 17-5-72

निकृष्ट श्रद्धा का परिणाम अति भयंकर होता है। इससे मानव-जीवन दानव-जीवन के तुल्य या पशु-जीवन के तुल्य बन जाया करता है। मिथ्यान्धकार से परिपूर्ण मानव अपने-आप को कहां ले जाकर पटकता है, इसकी कल्पना भी साधारण मनुष्य के लिये दुःशक्य-सी है।

श्रद्धा के अनुरूप ही उसका लक्ष्य बनता है। लक्ष्य ऊपर का भी बनता है और नीचे का भी। अधम श्रद्धावान का लक्ष्य प्रायः नीचा ही बनता है। लक्ष्य के अनुरूप ही चिन्तन, मनन, निदिध्यासन बनता जाता है। जैसा-जैसा निदिध्यासन बनता जायेगा, वैसा-वैसा उसके जीवन का परिणाम बनता जायेगा। ऊपर से व्यक्ति कितना ही उन्नत ज्ञात होता हो, लेकिन लक्ष्य उन्नत नहीं होने से वह नीचे की ओर ही जाता है। इस जन्म की अवस्था तो पूर्व जीवन का परिणाम है, लेकिन इस जीवन का परिणाम भावी जीवन बनता है। वह इस जीवन में भी बन सकता है और अन्य जीवन में भी। अतः मानव को श्रद्धासृजन के क्षेत्र में अति ही सावधान रहने की आवश्यकता है।

(गादोली)

दिनांक 22-5-72

इस जीवन की अलौकिकता का कुछ वर्णन करना साधारणजन के लिये शक्य नहीं है। विराट् विश्व में जीवन का आश्चर्यजनक दृश्य देखते ही बनता है। इसका अनुसन्धान प्रतिक्षण चल रहा है।

अनुसन्धान कहाँ तक कामयाब होगा, यह एक रहस्यमय विषय है। पर वैज्ञानिक अपनी काल्पनिक दृष्टि को साकार रूप देने में तत्पर विदित हो रहे हैं। मानव भी बड़ी उत्सुकतापूर्वक निहार रहा है। लेकिन मानव की चिरअभिलषित मनोकामना वर्त्तमान विज्ञान के साधनों से पूर्ण होने वाली नहीं है। क्योंकि वर्त्तमान वैज्ञानिक साधन भौतिकता प्रधान हैं। जब तक भौतिकमय साधन पर ही दृष्टि की सर्वस्वता रहेगी, तब तक जीवन के रहस्य के द्वार खुलने वाले नहीं हैं। भौतिक साधनों में सहायकता देखी जा सकती है, पर जीवन रहस्य की कुंजी नहीं है। कुंजी के बिना ताला नहीं खुलता। ताला खुले बिना द्वार नहीं खुल सकता, यही कारण है कि अनादि काल से अज्ञानियों के लिए जीवन की समस्या प्रायः जैसी की तैसी बनी हुई है और मशीन की तरह जीवन चलता आ रहा है।

(देवली)

दिनांक 24-5-72

इस विश्व का अलौकिक दृश्य देखा जा सकता है, श्रवण किया जा सकता है, पर उसके योग्य मानव की क्षमता का विकास होना नितान्त आवश्यक है। श्रवण की क्षमता के बिना विश्व में होने वाली आवाजें दिल की गति बढ़ा देती हैं, क्योंकि विश्व की जिस प्रतर पर आवाजें गुंजायमान हो रही हैं, उस प्रतर की अवस्था को श्रवण करने का जब अवसर आता है, तब मानव अपने मस्तिष्क का सन्तुलन भी बराबर कायम नहीं रख सकता। सन्तुलन के बिगड़ जाने से व्यक्ति भय-भ्रान्त बन जाता है और वैसी अवस्था में कुछ भी सोच नहीं सकता। या तो हार्टफैल हो जाता है या पागल वन जाता है। अतः उस स्तर के विश्व में होनेवाली आवाजों को श्रवण करने के लिए वैसी योग्यता-सम्पादन की नितान्त आवश्यकता है। यही अवस्था चक्षु आदि इन्द्रियों की बन जाती है।

विराट् विश्व में सभी दृश्य विद्यमान हैं, लेकिन विभिन्न प्रतरें, विभिन्न श्रेणियाँ सर्वत्र परिपूर्णरूपेण व्याप्त हैं। आवश्यकता है उनके विज्ञान की। उस प्रकार के विज्ञान के बिना कुछ भी बनने वाला नहीं है।

(आदर्शनगर, सवाईमाधोपुर)

दिनांक 28-5-72

किसी भी वस्तु का अवलोकन करने के लिये वैसी शक्ति व्यवस्थित रूप से प्राप्त करना उसकी प्रथम शर्त है। समग्र विश्व को संपूर्णरूपेण अवगत कराने के लिए वैसी ही साधना आवश्यक है। तलस्पर्शी निर्भयता संयुक्त अहिंसा की अनुभूति साधना का प्रथम सोपान वनती है। उसी अनुभूति को भली-भाँति उभारने के लिए सरलता संयुक्त परम सत्यनिष्ठा जीवन का मूलमंत्र बन जाती है।

उपर्युक्त प्रकार के साधना-सोपान की व्यवस्थित भित्ति के लिए अन्य व्यवस्थित नियमोपनियम जीवन के अभिन्न अंग बन जाया करते हैं। लेकिन यह तभी सम्भव है जबकि व्यर्थ की कल्पनायुक्त मानसिक वृत्ति का परित्याग किया जाय। यह भी तभी सम्भव है, जब मोह की अवस्था पर ब्रेक लग सके (नियन्त्रण सध सके)।

आज तो प्राय: यत्र-तत्र-सर्वत्र मोह का ही जाल फैला हुआ है। इस जाल को तोड़ना सरल नहीं है, क्योंकि यह वह मदिरा है, जो अनेक रूपों को धारण कर लेती है। मानव को मानव न रखकर दानव, पिशाच, रावण आदि बना देती है। इससे छुटकारा पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। लेकिन निरन्तर विवेकपूर्वक अभ्यास से सुसाध्य हो सकता है।

(आदर्शनगर, सवाई माधोपुर)

दिनांक 30-5-72

मानव-मन प्रायः अपनी अवस्था को नहीं समझ पा रहा है कि मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता हूँ। मन की दो दशाएँ हैं—एक द्रव्यमन की, दूसरी भावमन की। द्रव्यमन (मैटर) द्रव्यों की प्रधानता से निर्मित है। भावमन शाश्वत शक्ति के पर्याय-स्वरूप है अर्थात् उसे अमर शक्ति का एक प्रकार कह सकते हैं।

भावमन की प्रेरणा से द्रव्यमन की हलचल संकल्प-विकल्प, आदि प्रक्रियाएँ बना करती हैं। द्रव्यमन स्वयं यानी भावमन बिना स्वयं को या स्वयं के विषय को क्या कर सकता है, क्या नहीं कर सकता है, इत्यादि कुछ भी नहीं समझ सकता, क्योंकि एतद्-विषयक क्षमता उसमें नहीं रह पाती। यह विषय मुख्यतः भावमन का है। भावमन ही इस विषय में भली-भाँति सोच सकता है, पर प्रारम्भ में उसे भी द्रव्यमन की शक्ति उपयोग में लेनी पड़ती है, क्योंकि प्रारम्भ में वह भी एक दृष्टि से अपंग रहता है। अतः भावमन की प्रधानता से ही द्रव्यमन कार्यकारी होता है।

(सूखाल, सवाईमाधोपुर)

दिनांक 31-5-72

भावमन की शक्ति को पहचानने के लिए भावमन के साथ रहने वाले विकारों को दूर करना परम आवश्यक है। वे विकार वास्तविक स्वरूप को नहीं समझने, भय, असत्य, अब्रह्मचर्य, नाशवान पदार्थों पर मूर्च्छा, यश-कीर्ति, आदि अनेक प्रकार के होते हैं। वे उस मानसिक शक्ति के सही स्वरूप को समझने में बाधक बन जाया करते हैं। यही कारण है कि मानव का जीवन अस्त-व्यस्त बना हुआ है। इसी अस्त-व्यस्त दशा में मानव अपने जीवन पर नियन्त्रण नहीं रख पाता। विना नियन्त्रण के विश्व के विभिन्न प्रतरों को समझ नहीं पाता तथा उनमें होनेवाली हलचल, आवाजें, अनेक तरह के दृश्य वास्तविक स्वरूप की पहचान एवं उसकी प्राप्ति नहीं होती है।

यह अमूल्य जीवन अमूल्य वास्तविक स्वरूप के बिना नाशवान पदार्थों में आसक्त बना हुआ व्यर्थ ही जा रहा है। इसका आन्तरिक ज्ञान हुए विना कुछ भी नहीं बन सकता। अतः जीवन की वास्तविक सफलता इसी में है कि मानसिक समस्त विकारों से परे, जो वास्तविक स्वरूप रहा हुआ है, उसको व्यक्त किया जाय एवं विश्व के समस्त दृश्यों से जरा भी विचलित न होते हुए दृढ़ संकल्प के साथ चला जाय।

(चक्केरी)

दिनांक 1-6-72.

मानसिक विकारों को समझे बिना उनका निवारण होना अशक्य-सा है। उनको समझने का कार्य भी सहज नहीं है, क्योंकि इन विकारों का अति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं अति स्थूल-से-स्थूल जाल प्रायः सर्वत्र व्याप्त है। स्वयं आत्मा भी उससे आच्छादित-आवृत्त है तथा उनका रंग इतना फैला हुआ है जिससे किंकर्तव्यविमूढ़-सी दशा बन जाया करती है। ऐसी अवस्था में भावमन अपने-आप को पहचानने में भी असमर्थ-सा बन रहा है। मैं क्या हूँ? मेरा अस्तित्व किसके साथ है? मैं किसके आधार पर कार्य कर पा रहा हूँ? किस अवस्था से मैं कैसे अपनी वास्तविक दशा को पहचान पाऊँ? इस प्रकार इसके साथ अनेक जटिल प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं। इन प्रश्नों का हल भी अवश्य बन जाता है। इनका सही हल आये बिना जीवन-सम्बन्धी तमाम समस्याओं का हल सम्भव नहीं है।

सभी समस्याएं मानसिक विकारों से बनी हुई हैं। अतः उनकी जानकारी करने के लिए सतत् जाग्रत बन कर सही दृढ़ संकल्पपूर्वक निरन्तर अभ्यास प्रारम्भ करना ही श्रेयस्कर है। और वह भी सत्कारपूर्वक बनना आवश्यक है।

(श्यामपुरा)

दिनांक 2-6-72

शारीरिक उतार-चढ़ाव को देखकर मन में उतार-चढ़ाव लाना योग्य नहीं। मन की महत्त्वपूर्ण शक्ति का अंकन शरीर के धरातल पर ही नहीं होना चाहिए। शरीर का मन पर असर अवश्य पड़ता है पर मन का भी तो असर शरीर पर पड़ता है। शरीर और मन के असर की तुलना की जाय, तो मन का असर अधिक एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

आस-पास के वायुमण्डल से मन प्रभावित होता रहता है तथा साधारण व्यक्तियों का मन वातावरण के अनुरूप अपने को बनाने की कोशिश करता है एवं तदनुरूप बनकर दृढ़संकल्पी बन जाता है। वैसी अवस्था में शरीर की दशा भी उसी के अनुरूप बन जाया करती है।

जंगल में रहने वाली चिड़िया वैसी ही वर्ण वाली बन जाया करती है, जिन घनी वनस्पतियों में वे चिड़ियाएँ रहती हैं। उनका रंग लगभग वनस्पति के रंग का बन जाया करता है। उस जंगल में बैठी हुई चिड़ियाँ एकाएक मालूम नहीं होंगी। जब वे उड़ेंगी तब ज्ञान होगा कि चिड़ियाएँ हैं।

इससे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि मन के ऊपर वातावरण का असर तथा मन का शरीर पर महत्त्वपूर्ण असर पड़ता है। किन्तु विशिष्ट मन विलक्षण होता है।

(श्यामपुरा)

दिनांक 3-6-72

मानसिक विचार कभी-कभी भले बनकर भी उपस्थित होते हैं, पर वे वस्तुतः भले नहीं होते। वे भले की पोशाक लेकर भलाई दिखाने के लिए आते हैं, पर उनकी सच्ची विज्ञप्ति न होने से अच्छे मान लिये जाते हैं।

अन्ततः वे धोखा देते हैं और आवरण बनकर चारों ओर छा जाते हैं। अन्य को भी स्वयं के अनुरूप बनाकर वे एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार पुनः-पुनः भले वेष का भी रूपान्तर करते, जाल बिछाते रहते हैं। इस इन्द्रजाल का अन्त तब तक नहीं आता, जब तक इनको सही रूप में पहचान नहीं लिया जाता। इनको पहचानने में बहुत बड़ी कठिनाई यह भी आती है कि इस प्रकार के इन्द्रजालों में बहुत से आकर्षक लुभावने प्रलोभनों का प्राचुर्य रहता है। लुभावने आस्वादों की उन्मत्तता से विवेक-विकलता की मात्रा बढ़ जाती है।

उन्मत्तता की अवस्था में पतन को भी उत्थान, असत्य को भी सत्य, हित को भी अहित, कल्याण को अकल्याण मानने का बहुत बड़ा अपराध बन जाता है। अन्य का कथन अच्छा नहीं लगता। व्यर्थ का बकवाद माना जाता है।

अपनी समझ को सबसे बेस्ट-श्रेष्ठ मानने में भी इस प्रकार के मानसिक विचारों का प्रभाव काम करता है। इस प्रकार भले वेष के बहाने मलिनता का प्रभुत्व काम करता रहता है।

(श्यामपुरा)

दिनांक 4-6-72

आन्तरिक जीवन में प्रवेश पाने के लिए अहिंसा, सत्यादि के पूर्ण निष्ठापूर्वक आचरण का साकार रूप बन जाने पर आन्तरिक जीवन में प्रवेश की पृष्ठ-भूमि बन जाती है। जीवन की सुन्दर पृष्ठ-भूमि-पूर्वक निरन्तर अभ्यास के कारण आन्तरिक पृष्ठ-भूमि पर चलते रहने पर हम ऊपरी स्तर के आँधी-तूफानों को पार करते हुए उस भव्य स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ ऊपरी प्रतर के आंधी-तूफानों का झपाटा नहीं है। बारीक रजकण के समान कुछ दृश्य अवश्य रहता है। वह दृश्यावली भूमण्डल की उस छवि से मेल खाता है, मानो आंधी-तूफान की परिशान्ति के उपरान्त सूर्य गोल-गोल के इर्द-गिर्द कुछ कटी-छँटी मेघराशि शेष रह गई हो। वहाँ पर उतनी ही शान्ति का अनुभव होगा, जितनी शान्ति का अनुभव आँधी के थपेड़ों से दुःखित पुरुष को आँधी के प्रबल-प्रवाह के बीत जाने पर होता है। यह अवस्था आखिरी नहीं है। यह तो जीवन की आन्तरिक यात्रा के सही पृष्ठ-भूमि पर अवतरण और फिर आगे की यात्रा का प्रारम्भिक विश्राम-स्थल है। यहीं गति को स्थगित नहीं करना है। पर यहाँ क्या दृश्य है, कौनसी वृत्तियाँ यहाँ काम कर रही हैं? उन सब वृत्तियों की जानकारी भी यहाँ पर नितान्त आवश्यक है। यहाँ की सही विज्ञप्ति आगे काम आती है।

(श्यामपुरा)
दिनांक 5-6-72

जीवन की आन्तरिक धरा पर चलना सरल नहीं है। वहाँ पर चलना जिसने सीख लिया, उसने जीवन की सफलता पा ली, ऐसा कहा जा सकता है। जिसने आंतरिक धरा पर चलना नहीं सीखा, और अन्य कितनी कुछ भी उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली हों, उसके लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसने जीवन की सफलता पाई है, क्योंकि आन्तरिक गति के बिना बाह्य गति सिर्फ मकान को बाहर से पोतना और अन्दर में गन्दगी भरी रखने के समान है। यदि बाह्य गति आन्तरिक गतिपूर्वक बने, तो दोनों जीवन के वास्तविक पंख बन सकते हैं।

(श्यामपुरा, जिला-सवाईमाधोपुर)

दिनांक 6-6-72

आन्तरिक वृत्तियाँ अत्यधिक जटिल, दुर्गम व दु:साध्य हैं। उन पर नियंत्रण के लिए सावधानीपूर्वक विवेक के साथ तप, जप, साधना की नितान्त आवश्यकता है।

जीवन से सम्बन्धित समस्त बाह्य वैभव से छूटना यथासम्भव आवश्यक है। साधनावस्था में सहायक अन्न, वस्त्रादि के अतिरिक्त सभी वस्तुएँ परित्यक्त करने पर आगे के तपादि कार्य सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं। जिस भी बाह्य वैभव का त्याग हो, वह आन्तरिक भावनापूर्वक हो, ताकि आन्तरिक वृत्तियों को पहचानने में अधिक सुविधा रह सके। बाह्य वैभव का त्याग भी काफी हद तक आन्तरिक कचरे को साफ करता है। यह तो सबसे पहले अत्यावश्यक कदम है। इसका त्याग किये बिना एतद्विषयक आन्तरिक विकृतियाँ हल्की नहीं बन सकतीं। आन्तरिक वृत्तियाँ जितनी हल्की होंगी, उतनी ही ऊपर उभरेंगी। जो वस्तु गूढ़ ग्रन्थि को तोड़कर हल्की बनती है, वह वस्तु ऊपर तैरने लगती है। तैरती हुई वस्तु शीघ्र ही पहचानी जा सकती है एवं पकड़कर निकाली भी जा सकती है। वैसे ही आन्तरिक विकार बाह्य वैभव की पकड़ के साथ भारी एवं अत्यधिक गहनता में होते हैं।

बाह्य वैभव का यथासम्भव, यथाशक्ति त्याग कर देने पर आन्तरिक विकार भी अति हल्के हो सकते हैं। जब हल्के बनकर तैरने की अवस्था में आयेंगे, तब पहचानने में शीघ्र आयेंगे तथा पकड़-कर नियंत्रण में भी लिए जा सकेंगे। वैसी दशा में आन्तरिक वृत्तियाँ सरल, सुगम्य, सुसाध्य बन जाती हैं।

धर्मपुरी (श्यामपुरा)

दिनांक 7-6-72

एक ज्ञेय परमाणु के साथ ज्ञायक के ज्ञान के एक, दो, दस जाव संख्यात, असंख्यात, अनन्त, अनन्तानन्त पर्याय बनते हैं। वह भी एक वर्ण वर्ग के साथ। वैसे ही रस, गन्ध, स्पर्श वर्ग का भी विज्ञान समझना चाहिए। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, जीवास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से ज्ञायक के विज्ञान-सम्बन्धी पांच वर्गीकरण के रूप में अंग बन जाते हैं।

जीवास्तिकाय की अवस्था तो ज्ञेय तथा ज्ञायक उभय रूप में बन जाती है। दोनों अवस्थाएं वास्तविक रूप में जीवतत्त्व के स्वभाव रूप में हैं।

(जयपुर)

दिनांक 14-8-72

एकत्रित समस्त शक्तियों को सम्मुख रखने पर सब शक्तियाँ सध जाती हैं। विभिन्नाश्रित सर्व शक्तियाँ नहीं सध सकतीं। क्योंकि अपूर्ण साधन अवस्था में साधन-शक्ति सीमित होती है।

सीमित शक्ति अनेक केन्द्रों को पकड़ने में असमर्थ रहती है। विभिन्न विभागों में विभक्त हो जाने से एक तक भी नहीं पहुँच पाती, फलस्वरूप कुछ भी सध नहीं पाता। बल्कि उस अपूर्ण साधना-शक्ति का भी ह्रास हो जाता है, फिर तो कुछ भी संभल नहीं पाता। यदि अनेकाश्रित उसी अपूर्ण शक्ति को एक ही केन्द्र से सही तरीके से सम्बधित कर दिया जाय, तो वही शक्ति असीम पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। फिर तो विभिन्न अनेकानेक केन्द्रों को भी भलीभाँति जाना, देखा जा सकता है। ऐसा होने पर भी शक्ति का ह्रास नहीं हो पायेगा, कारण कि अब वह असीम, पूर्ण हो चुकी है।

अत: अपूर्ण अवस्था की शक्ति को व्यवस्थित रूप से पहले अनेकाश्रित एक केन्द्र से सम्बन्धित करना नितान्त आवश्यक है।

(जयपुर, लालभवन)

दिनांक 15-8-72

मन के तीन स्तर हैं—जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट। जघन्य स्तर की भावना अति कमजोर तथा कच्ची होती है। जघन्य भावना में जब कुछ परिपक्वता बढ़ती है एवं मध्यम स्तर तक पहुँच जाती है तब वचन में भी परिणत हो सकती है। जब मध्यम भावना में भी अत्यधिक तीव्रता बढ़ती है, तब उत्कृष्ट की सीमा को छूती है। वैसी दशा में काया में भी परिणत होने लगती है। उसमें भी अति तीव्र वेग बढ़ता है, तब कायादि समग्र शरीर के अवयवों में उसकी चमक व्याप्त हो जाती है। वही अवस्था सही परिपक्व-अवस्था कही जा सकती है। उसी में वचन व काया का प्रवाह पूरा बहता है।

(जयपुर)

दिनांक 16-8-72

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र या अवयव में हर समय उत्साह एवं उमंग की लहर होनी चाहिए। जीवन एक बहती पवित्र गंगा के समान है। उसमें सभी वस्तुएँ आकर मिलती हैं। गंगा सभी वस्तुओं को स्वच्छ एवं शीतल बना देती है। वैसे ही जीवन-गंगा में जो भी वस्तुएँ प्रविष्ट हों अथवा संयुक्त हों, वे सभी यथायोग्य शान्त एवं पवित्र बन जाएँ, अर्थात् उन वस्तुओं के निमित्त राग-द्वेष न हो, यही उनके पवित्रपन की अवस्था है।

(जयपुर)

दिनांक 17-8-72

जीवन की साधना मस्ती में है। विराट् विश्व में समग्र वस्तुएँ सहायक के रूप में ली जा सकती हैं। सहायक अनुकूल साधन में एवं बाधक प्रतिकूल सहायक के रूप में हैं। कार्य-सिद्धि में अनुकूल-प्रतिकूल दोनों सामग्री अपेक्षित हैं। अनुकूल में अधिक सावधानी तब रहेगी, जबकि प्रतिकूल सामने होगा। साधक सोचेगा कि यदि मैंने अनुकूल सामग्री का सही प्रयोग नहीं किया तो यह सामग्री प्रतिपक्षी के साथ में चली जायेगी या नष्ट हो जायेगी। ऐसी भावना प्रतिकूल तत्त्वों की उपस्थिति में विशेष बनेगी। अत: प्रतिकूल भी सुन्दर कार्य-संपादन में सहायक हुआ। इसलिए प्रतिकूल से कभी भय नहीं खाकर उसे साधन रूप में मानना चाहिए। इस दृष्टि से सोचा जाय, तो समग्र विश्व सहायक है। तब किस बात का भय तथा किसके लिए ? अत: सदा सर्वत्र भय और चिन्ता से मुक्त होकर प्रसन्नता पूर्वक जीवन-निर्माण में लगना चाहिए।

(जयपुर)

दिनांक 17-8-72

जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। जिस समय मन के प्रतिकूल परिस्थिति आये, उस वक्त धैर्य की नितान्त आवश्यकता रहती है, क्योंकि सही मार्ग पर चलने पर भी जब विपरीत कार्य बनने लगता है तब स्वाभाविक तौर पर मन अटपटा महसूस करने लगता है तथा उस कार्य से पिण्ड छुड़ाने का सोचने लगता है। पर मेधावी पुरुषों को ऐसे प्रसंग को ही मेधा की परीक्षा का अवसर समझना चाहिए एवं परीक्षा देने में कभी पीछे नहीं हटना चाहिये। ऐसे प्रसंग जब भी आयें, तब अधिक उल्लास के साथ उस कार्य का संपादन करना चाहिए। ऐसे प्रसंग में जीवनी-शक्ति की वृद्धि होती है, जो कि उसी के लिए हितावह है।

(जयपुर, लालभवन)

दिनांक 18-8-72

स्वयं का उत्तरदायित्व स्वयं पर है; दूसरों पर नहीं। दूसरे सहायक बन सकते हैं। लेकिन कब? जबकि स्वयं अपने कर्त्तव्य-पालन में तत्पर होता है।

मूल स्वयं बनता है, तो खाद-पानी, आदि सहायक हो सकते हैं। मूल स्वरूप में स्वयं नहीं है, तो अन्य कितने ही सुन्दर एवं सुव्यवस्थित सहायक हों, वे काम नहीं कर सकते। उसी प्रकार मूल है। पर अन्य योग्य सहायक नहीं है, तो मूल कुछ सीमा तक ही कुछ कर पायेगा। आगे नहीं। प्रारम्भ में तो अन्य की किसी-न-किसी रूप में आवश्यकता रहती है, फिर स्वयं की समर्थता इतनी बढ़ जाय तो अन्य सहायक गौण हो सकते हैं। यही अवस्था जीवन, आत्मा, बुद्धि आदि के विषय में देखी जा सकती है।

(जयपुर)

दिनांक 18-8-72

जीवन की कला जल्दी मस्तिष्क में प्रवेश नहीं कर पाती। उसको प्रवेश कराने के लिए निरन्तर प्रयास अपेक्षित है।

अभ्यास के रूप में नियमित समय पर प्रयत्न होने चाहिये। समय की नियमितता नितान्त आवश्यक है। समय की अनियमितता के कारण जीवन-कोशिकाएं नियमित कार्य नहीं कर पातीं। एक कार्य में अनियमितता के कारण अस्त-व्यस्तता बनती है, तो उसका असर अन्य कार्यों पर भी पड़ता है। वे भी नियमित रूप से नहीं बन पाते। इस प्रकार से भी कार्यों के अनियमित बन जाने से स्वास्थ्य पर भी घातक प्रभाव होता है। साथ ही मस्तिष्क भी व्यवस्थित नहीं रह पाता। मस्तिष्क की सुव्यवस्था के बिना जीवन-कला व्यवस्थित नहीं बनती एवं उसके बिना जीवन ही व्यर्थ हो जाता है।

(जयपुर)

दिनांक 19-8-72

नियमित निरन्तर अभ्यास एक स्वभाव-सा बन जाता है। उसी अभ्यास में यदि विवेकपूर्वक खोज का ध्यान रखा जाय, तो कार्मा-णिकी बुद्धि के साथ अत्यधिक प्रगति की जा सकती है।

पौद्गलिक आसक्ति सम्बन्धी जितने भी भाव परिलक्षित हो रहे हैं, वे सब कृत्रिम हैं। लेकिन लम्बे काल से निरन्तर अभ्यासवश वे स्वाभाविक से भासित होने लगते हैं तथा जो स्वाभाविक भाव थे, वे कृत्रिम से लगने लगते हैं। क्योंकि दीर्घकाल से उनका वास्तविक अभ्यास प्रायः छूट-सा गया है।

सावधानीपूर्वक वास्तविक स्वभाव को अभिव्यक्त करने के लिए विवेकपूर्वक निरन्तर नियमित अभ्यास पुनः चालू करना अत्याव-श्यक है।

(जयपुर)

दिनांक 20-8-72

यदि पापों को छिपाता रहता है, तो एक ही साथ उनका विस्फोट होता है। किसी भी वस्तु के अतिमात्रा में एकत्रित होने पर उभार आता ही है। प्रारम्भ से ही पापों का आहिस्ते-आहिस्ते शमन करता रहे, यथावसर बाहर भी निष्कासित करता रहे, तो उससे हल्का रहेगा तथा कभी भी विस्फोट का प्रसंग नहीं बन पायेगा।

व्यक्ति जीवन, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के समस्त स्वरूपों का प्रायः यह अवस्थान बनता रहता है।

(जयपुर, लालभवन)

दिनांक 21-8-72

मनुष्य मुख्य तौर पर दो तरह के पाये जाते हैं। एक विद्वान्, अन्य अविद्वान्। विद्वान् के भी दो भेद किये जा सकते हैं—एक कच्चे मस्तिष्क वाले तो दूसरे परिपक्व मस्तिष्क वाले। अपरिपक्व पुरुष स्थिर नहीं होते। विद्वान् होने पर भी इधर-उधर के विचारों के प्रवाह में वहते रहते हैं। स्थिर लक्ष्य नहीं होने से, मन में भी स्थिरता नहीं वन पाती। किसी ने कुछ कहा, तो उसकी मानने में तत्पर हो गये। परिपक्व-मस्तिष्क मानव गृहीत लक्ष्य पर स्थिर रहता है। कितने ही विचारों के आँधी-तूफान आयें, पर वह उनमें से भी अपने लक्ष्य की पुष्टि कर पायेगा तथा अन्य को भी अपने अनुरूप ढालने की कोशिश करेगा। यह बात अविद्वान् मानवों में भी पाई जाती है।

(जयपुर)

दिनांक 24-8-72

ध्यान की जीवन में अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना एक क्षण भी व्यतीत नहीं होता। पानी का शीत एवं प्यास शान्त करने स्वरूप स्वभाव, आग का उष्णता तथा प्रकाश स्वभाव, तारे और चन्द्र का ज्योत्सना स्वभाव, सूर्य का भास्कर स्वभाव, आकाश का अवकाश स्वरूप एवं आत्मा का ज्ञानादि गुण स्वभाव असाधारण रूप से विद्यमान है। इन असाधारण स्वरूपों के विना उपरोक्त वस्तुएँ रह नहीं सकतीं। पदार्थ के असाधारण स्वरूप की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही प्राणीवर्ग के लिए ध्यान की आवश्यकता है।

(जयपुर)

दिनांक 18-10-72

साधक को साधना के क्षेत्र में निरन्तर चलते रहना चाहिए। कभी भी विराम का नहीं सोचना चाहिए। विराम का चिन्तन साधक के गिराव (पतन) का सूचक है।

साधना से हतोत्साह होने पर ही विराम की भावना वनती है। साधना में थकान नहीं आती, क्योंकि साधनों की विधियाँ परिवर्त्तित होती रहती हैं। इससे साधना की शक्ति तरोताजा एवं वलवती वनी रहती है।

फल की लालसा गिराव का बीज है। साधना की क्रिया निष्फल नहीं जाती। धैर्यपूर्वक सदा वढ़ते रहना ही साधक का परम कर्त्तव्य होना चाहिए।

(रूपनगढ़)

दिनांक 8-12-72

जीवन बाह्य व्यवहारों से उलझ गया है। सर्वत्र दृश्य पदार्थों का आकर्षण जीवनी शक्ति को विभक्त कर रहा है। शक्ति की विराटता इन दृश्य पदार्थों में अवरुद्ध हो रही है।

मनुष्य जन्म से शक्ति को फैलाना चालू करता है। सर्वप्रथम स्तन-पान की ओर मुड़ता है। पश्चात् माता-पिता एवं अन्य परिवार में रमता है। तदनन्तर खेल, विद्याध्ययन एवं अर्थ में स्वकीय शक्ति को लगा देता है। फिर समाज, राष्ट्र आदि भौतिक कार्यों में व्यस्त बनकर जीवन की इतिश्री भी कर देता है। आन्तरिक अभिव्यक्ति की तरफ देखने का भी अवसर नहीं मिल पाता।

(उदयरामसर)

दिनांक 7-7-73

जीवन की आभ्यन्तर सत्ता का अवलोकन विधिवत् अन्तर में देखने पर ही हो सकता है। आभ्यन्तर विषयक वृत्तियों का अवलोकन सर्व-प्रथम होना चाहिए।

आन्तरिक वृत्तियों के परीक्षण विना आन्तरिक सत्ता का दृष्टि-पथ में आना शक्य नहीं। क्योंकि आन्तरिक सत्व को इन वृत्तियों ने दबा रखा है। यह एक प्रकार का आन्तरिक आवरण है। इसे हटाना तभी संभव वन सकता है, जवकि इनकी पहचान हो। बाह्य दृश्य पदार्थों की भी आभ्यन्तर वृत्तियां वनी हुई हैं। उनका चक्र-व्यूह इस प्रकार व्याप्त है कि साधारण पुरुष का इससे पिण्ड छूटना असम्भव नहीं, तो दुःशक्य अवश्य कहा जा सकता है।

(उदयरामसर)
दिनांक 8-7-73

वास्तविक आचरण से वास्तविक जीवन हस्तगत होता है। यानि जीवन का सच्चा मर्म प्राप्त होता है। सच्चे आचरण के अभाव में जीवन की जानकारी केवल कला के तुल्य कही जा सकती है।

दिनांक 15-7-73

तालु के ऊपरी भाग के ग्रन्थिस्थान की चन्द्र की उपमा दी जाती हैं। उसमें से निकलने वाले रस को अमृत की उपमा दी जाती है। वह जठराग्नि में पहुँचता है। खाना खाने के वाद वनने वाले रस में मिलने से उस रस की रासायनिक प्रक्रिया में परिवर्तन आता है, परिणाम-स्वरूप शारीरिक तत्त्वों पर असर पड़ता है। अमृतोपम रस जीवन-विचारों से प्रभावित तत्त्व है। यदि विचारों में क्रूरता की प्रधानता है, तो वह रस जठर में पहुँचते ही अपनी अमृतोपमता को खो देगा और भस्म हो क्रूर—घातक रस के रूप में उदररस में मिलने से उदर में बनने वाला रस भी उसके अनुरूप शारीरिक अवयवों के लिये अहितकर बन जाता है।

यदि सौम्यादि पवित्र विचारों से प्रभावित है तो अमृतोपम जठर से उदररस की रासायनिक प्रक्रिया से अपने अनुरूप परिवर्त्तन के साथ शारीरिक अवयवों के लिए हितावह होगा।

(बीकानेर)

दिनांक 16-7-73

शारीरिक विज्ञान एवं विचारों का परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को सही पद्धति से विदित किया जाय तथा दृढ़ निष्ठा के साथ तदनुरूप आचरण किया जाय तो इच्छित शारीरिक, आदि अनेक उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं।

(बीकानेर)

दिनांक 17-7-73

पवित्र आत्मीय विचारों का प्रवाह जड़ पदार्थों पर भी पड़ता है। उनके पर्यायों में परिवर्तन आता है। उनकी अवस्था आत्मीय विचारों के अनुरूप ढल जाती है। अतः जिन भी पदार्थों को जिस रूप में मोड़ना हो, उस रूप में वे विचारपूर्वक योग्य संयोगों में मोड़े जा सकते हैं। यह असंदिग्ध विषय है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन में उल्लिखित कर्मसिद्धान्तानुसार कर्मवर्गणा के जड़ परमाणु चैतन्य-संपृक्त होने पर चैतन्यवत् कहलाते हैं।

आत्मीय विचार शान्त एवं अमृततुल्य हैं, तो उन विचारों का निरन्तर व्यवस्थित संयोग जिन परमाणु स्कन्धों को मिलेगा, वे परमाणु स्कंध शान्त सुधारस एवं अमृत तुल्य अवश्य बन जायेंगे।

(बीकानेर)

दिनांक 17-7-73

ता-28-12-73 को नापासर आये। उस रात्रि को लगभग 3-45 बजे स्वप्न आया। स्वप्न में स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के दर्शन हुए। उसके पश्चात् एक दृश्य सामने आया। उसमें एक कस्बा या शहर से विहार कर जैसे ही बाहर निकले तो थोड़े से फासले पर एक-दो व्यक्ति गहरे वृक्ष के नीचे खड़े थे। जैसे ही उन्होंने संतों को शहर से बाहर निकलते देखा, वैसे ही एक भाई ने हर्षित होते हुए एक टेढ़े मुड़े हुए लम्बे बाजे को बजाना प्रारंभ किया और उसी वक्त दूसरा व्यक्ति छोटे कद में स्त्री पोशाक में नाचने लगा। इससे ऐसा अनुभव हो रहा था कि यह विजयघोष कर रहा है तथा यह शासन-देवी हर्ष से विभोर होकर नाच रही है। इस प्रकार छोटे कद में कन्या के रूप में शासन-देवी का परिचय गतवर्ष जयपुर से विहार कर बीकानेर की तरफ आ रहे थे, तब रास्ते में एक गांव में स्वप्न अवस्था में हुआ था। वैसा ही लगभग यह छोटे रूप में दीख रहा था। इनको इशारा किया कि ऐसा न किया जाय। फिर भी नहीं रुके।

दिनांक 31-12-73

आज प्रातःकाल सेठिया कोटड़ी की ऊपरी छत पर 7-30 से 8-30 बीच घूमते समय वस्तु-सत्य की सच्ची अनुभूति की जागृति हुई। ', भविष्य के मध्य वर्तमान दिन का वर्तमान चिन्तनक्षण अति महत्त्वपूर्ण है। उसी की सावधानी ध्रौव्य पर्याय के साथ अत्यधिक ज्वल पवित्रतम कार्य में दत्तावधान होना ही श्रेष्ठ सार्थक समय । उसी में सर्वज्ञता के स्वरूप की अभिव्यक्ति का अवसर है।

(बीकानेर)

ांक 14-4-76

विद्यमान क्षण को महत्त्व देना जीवन को सार्थक बनाना है। ्रेक समय में निर्माणात्मक पवित्र विचारों के साथ भावों की प्रबलता उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करती है।

अशुद्ध विचारों का प्रवेश मन में नहीं होने देना ही बुद्धिमत्तापूर्ण श्रेयस्कर है।

(बीकानेर)

ांक 15-4-76

विचारों के उतार-चढ़ाव के प्रसंग पर निर्धारित लक्ष्य-बिन्दु पर स्थिर रहना ही विशेष महत्त्व की बात है। उसी से दृढ़ता की स्थिति ायित्व को प्राप्त होती है।

(बीकानेर)

ांक 18-4-76

सब शारीरिक व्याधियों का मूल मस्तिष्क है। वहीं से जिसको ्रय मिलता है, वही शरीर के अन्दर प्रवेश पाकर अपना स्थान बना ा है। अन्य तत्त्वों का वायुमण्डल के माध्यम से श्वास, प्रश्वास, ान-पान, रोम आदि छिद्रों से शरीर में प्रविष्ट होना सम्भावित है, : उनको शारीरिक तत्त्वों के साथ प्रश्रय ज्ञात, अज्ञात अथवा लापर- ही से मस्तिष्क से ही मिल पाता है। तभी वह भीतर में अपना स्थान ाता है। आभ्यन्तर अवयव जब तक अवकाश नहीं देते तब तक ्तर में जड़ नहीं जमती।

ांक 20-4-76

किसी भी स्थान या देश में अधिक समय रहना योग्य नहीं रहता। अधिक रहने से अवज्ञा होना संभावित है। विरल रूप से आते-जाते रहने से प्रेम-भाव की अभिवृद्धि बनती है। यही श्रेयस्कर रहता है। इसी में इन्सान की प्रतिष्ठा है।

दिनांक 3-12-76

साधना के क्षणों में जीवन-निर्माण विषयक तीन विशिष्ट सूत्र निष्पन्न हुए—

(1) सर्वदा, सर्वत्र, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सम्परिपूर्ण केन्द्रमयोऽहम्।

(2) सर्वदा, सर्वत्र, सर्वशक्ति सन्नियंत्रण केन्द्रमयोऽहम्।

(3) सर्वदा, सर्वत्र, सुरक्षा केन्द्रमयोऽहम्।

(भीनासर, बांठिया हाल का साधना-कक्ष)

दिनांक 1-1-77

विधिवत् नियमित उपयोगपूर्वक तदनुरूप जीवन-चर्या से उपर्युक्त सूत्रों की निष्पत्ति बनती है।

अहिंसा, सत्य, समत्वमय जीवन का सदा सर्वदा के लिये बन जाना इसकी भूमिका रूप है।

विराट एवं व्यापक भावना विवेक पूर्वक बनाने से साधना का क्षेत्र सुगम बन जाता है।

(भीनासर)

दिनांक 5-1-77

राग-द्वेष रूप परिणति का शमन करने का प्रयत्न हर समय रहना नितान्त आवश्यक है।

जागतिक वस्तुएँ यथास्थान, यथास्वरूप में विद्यमान रहती हैं। उनका वस्तुस्वरूप की दृष्टि से अवलोकन करना यथास्थान, यथायोग्य समझना ही श्रेयस्कर है। उन पर राग अथवा द्वेष का उद्वेग लाना योग्य नहीं।

(भीनासर)

दिनांक 6-1-77

विज्ञानपूर्वक दृढ़ संकल्पों का बहुत बड़ा महत्त्व है। इनकी तुलना में अन्य कोई तत्त्व आ नहीं सकता। जीवन की यदि कोई बहुत बड़ी निधि है, तो वह विज्ञानमय विचार का अत्यन्त दृढ़तम संकल्प है। इसी के सहारे जीवन जिया जाता है, निर्वाह किया जाता है तथा परिवर्तन, परिवर्धन, संक्रमण, संवर्धन ह्रास, कमजोरी, निर्बलता, वृद्धत्व, मृत्यु, आदि अवस्थाएं बनती-बिगड़ती रहती हैं।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक 7-1-77

वैज्ञानिकों, जिसमें आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों का समावेश हो जाता है, मन में जिस भी विषय की तीव्रता, उत्साह एवं जोश की अवस्था बनती है, उस वक्त वे अपने विचारों में दृढ़ संकल्प-शक्ति का समावेश कर लेते हैं। परिणाम स्वरूप जिस भी विषय की खोज करना चाहते हैं, उस विषय में प्रबल पुरुषार्थ के साथ संलग्न हो जाते हैं, और उस विषय में सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

डॉक्टर खुराना ने जिन जीन्स की खोज की, वे मानव के नहीं अपितु बैक्टिरिया के थे। फिर भी भौतिक, विज्ञान में एक मार्ग बना। आनुवंशिक संस्कारों के परिवर्तन की बातें भी भौतिक, वैज्ञानिक जगत में प्रारम्भ हुई। अन्य भी कई विकल्पनाएं समुपस्थित होने लगीं। पर परिवर्तन के वास्तविक मूल को अभी तक प्राप्त नहीं कर पाये, न उसकी ओर उनका ध्यान ही केन्द्रित हो पाया। यह खोज परीक्षण नली की दृष्टि से भले ही नई है, पर प्राकृतिक दृष्टि से नई नहीं है। इस विषय में शास्त्रीय अनुसंधान की दृष्टि से चिन्तन किया जाय, तो आश्चर्य को कोई अवकाश नहीं होगा।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक 8-1-77

दृढ़ संकल्पपूर्ण विचारों का प्रभाव जीवन के महत्त्वपूर्ण घटकों पर पड़ता है, जिससे जीवन में आमूलचूल परिवर्तन भी आ सकता है।

वैज्ञानिक खोज के अनुसार आनुवंशिक संस्कारों को वहन करने वाले जीन्स पर दृढ़ संकल्पशक्तिपूर्वक किये गये विचारों का भी प्रभाव पड़ता है, जिससे पूर्व के संस्कार परिवर्त्तित होकर अन्य संस्कार बन जाते हैं। संकल्प से रोगादिक की निवृत्ति भी संभवित है। जैसे संकल्पपूर्वक पुरुषार्थ किया जाय वैसी ही जीवनी शक्ति का सर्जन बन पाता है।

वैज्ञानिक क्षेत्र में जीन्स के परिवर्तन के लिए इन्जेक्शन आदि की परिकल्पना चल रही है। किन्तु इस विषय में रोगादि की निवृत्ति में तो परिवर्तन संभव है। वह भी पूर्व निदानपूर्वक योग्य विधि से प्रयुक्त हो तभी। वरना अन्य कई खतरे संभवित हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विषय में पूरी सफलता मिलनी अशक्य-सी है। यह विषय वैज्ञानिकों एवं गहरे चिन्तकों का है, प्रत्येक व्यक्ति का नहीं।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक 9-1-77

पुष्प सदा सर्वदा अपने ही स्वभाव में निमग्न रहता है। स्वकीय पराग-सौरभ को अपने-आपमें भरने में जरा भी विलम्ब नहीं करता। निरन्तर स्वयं को सुरभित बनाने में लगा रहता है। जब परिपूर्ण भर जाता है, तब उसमें से अपने आप इधर-उधर सर्वत्र सुगन्धि प्रसृत होने लगती है। उससे मानव को जो लाभ होता है, वह फलों आदि से नहीं होता।

मानव भी इस विराट विश्व का दिव्य पुष्प है। इसको भी अपने-आपमें पवित्र गुणों की सुगन्धि निरन्तर भरते रहना चाहिए। किसी भी समय कैसी भी अवस्था क्यों न हो, प्रतिकूल से प्रतिकूल प्रसंग पर भी सद्विचारों को अपने से एक समय के लिए भी विलग न होने दें। प्रतिकूल विचारों को समभाव के धरातल पर बिखेर कर जो जिस रूप में ज्ञात हो, उसको वस्तुस्वरूप की दृष्टि से उसी रूप में अवलोकन करें। पर राग-द्वेष के रंग को अपने विचारों पर न चढ़ने दें, ताकि स्वयं के पवित्र विचारों की सौरभ को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचे। यही मानव रूप दिव्य फूल की सफलता रूप की कुंजी है।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक 10-1-77

मानव अपने से भिन्न को अपना मानने में संकोच करता है। और तो दूर, स्वयं के कुटुम्ब परिजनों को भी कभी पर समझ बैठता है। यहां तक कि शत्रु तक मान लेता है। इसका कारण स्पष्ट है कि उस मानव ने अपने मन में एक बात जमा ली होती है कि जो मेरे विचारों व व्यवहारों से प्रतिकूल है, वह मेरा नहीं एवं जो मेरे विचारों एवं व्यवहारों से अनुकूल है, वह मेरा है। यही कसौटी या मान-दण्ड बना लेता है। यह परिपूर्ण एवं सही ज्ञान के अभाव में बनता है। पर सम्यक् परिपूर्ण ज्ञानी सर्व मानव को ही नहीं, अपितु समग्र प्राणीवर्ग को आत्मीय भावना से जानता एवं देखता है। उसकी अन्य से यही विशेषता है। जानने, मानने एवं देखने का बाह्य साधन समान होने पर भी आन्तरिक भावों में समत्व का नेत्र होने से बाह्य साधन भी समत्व साधन वाले बन जाते हैं।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक 11-1-77

विश्व में सभी जीवों को रहने का अधिकार है। यह विश्व ही उनका घर है। संसार की जितनी भी जीवनोपयोगी वस्तुएँ हैं, वे यथास्थान, यथायोग्य सभी की भागीदारी की हैं। कम हों, तो सम-वितरण के साथ व्यवस्था योग्य हैं। अधिक हों तो व्यक्ति, समाज व राष्ट्र उसका दुरुपयोग न करें, अपितु सदुपयोग से प्राणी-वर्ग को शांति पहुँचावें। श्रम शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीनों प्रकार के आवश्यक हैं। जो जिस श्रम की क्षमता वाला हो, उसको उसी श्रम के विषय में विशेष विवेक रखने की आवश्यकता है। श्रम एवं योग्यतानुसार उसके लिए सोचना उचित ठहरता है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं की योग्यता एवं तदनुरूप शक्ति का गोपन न करे। यथायोग्य, यथास्थान अपने-आपको नियुक्त करने में किंचि-दपि प्रमाद आलस्य न करे। अपना कार्य सबके लिए, सबका कार्य अपने लिए समझे।

(भीनासर)

दिनांक 12-1-77

पुष्प सदा सर्वदा अपने ही स्वभाव में निमग्न रहता है। स्वकीय पराग-सौरभ को अपने-आपमें भरने में जरा भी विलम्ब नहीं करता। निरन्तर स्वयं को सुरभित बनाने में लगा रहता है। जब परिपूर्ण भर जाता है, तब उसमें से अपने आप इधर-उधर सर्वत्र सुगन्धि प्रसृत होने लगती है। उससे मानव को जो लाभ होता है, वह फलों आदि से नहीं होता।

मानव भी इस विराट विश्व का दिव्य पुष्प है। इसको भी अपने-आपमें पवित्र गुणों की सुगन्धि निरन्तर भरते रहना चाहिए। किसी भी समय कैसी भी अवस्था क्यों न हो, प्रतिकूल से प्रतिकूल प्रसंग पर भी सद्‌विचारों को अपने से एक समय के लिए भी विलग न होने दें। प्रतिकूल विचारों को समभाव के धरातल पर विखेर कर जो जिस रूप में ज्ञात हो, उसको वस्तुस्वरूप की दृष्टि से उसी रूप में अवलोकन करें। पर राग-द्वेष के रंग को अपने विचारों पर न चढ़ने दें, ताकि स्वयं के पवित्र विचारों की सौरभ को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचे। यही मानव रूप दिव्य फूल की सफलता रूप की कुंजी है।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक 10-1-77

मानव अपने से भिन्न को अपना मानने में संकोच करता है। और तो दूर, स्वयं के कुटुम्ब परिजनों को भी कभी पर समझ बैठता है। यहाँ तक कि शत्रु तक मान लेता है। इसका कारण स्पष्ट है कि उस मानव ने अपने मन में एक बात जमा ली होती है कि जो मेरे विचारों व व्यवहारों से प्रतिकूल है, वह मेरा नहीं एवं जो मेरे विचारों एवं व्यवहारों से अनुकूल है, वह मेरा है। यही कसौटी या मान-दण्ड बना लेता है। यह परिपूर्ण एवं सही ज्ञान के अभाव में बनता है। पर सम्यक् परिपूर्ण ज्ञानी सर्व मानव को ही नहीं, अपितु समग्र प्राणीवर्ग को आत्मीय भावना से जानता एवं देखता है। उसकी अन्य से यही विशेषता है। जानने, मानने एवं देखने का बाह्य साधन समान होने पर भी आन्तरिक भावों में समत्व का नेत्र होने से बाह्य साधन भी समत्व साधन वाले बन जाते हैं।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक **11-1-77**

विश्व में सभी जीवों को रहने का अधिकार है। यह विश्व ही उनका घर है। संसार की जितनी भी जीवनोपयोगी वस्तुएँ हैं, वे यथास्थान, यथायोग्य सभी की भागीदारी की हैं। कम हों, तो सम-वितरण के साथ व्यवस्था योग्य हैं। अधिक हों तो व्यक्ति, समाज व राष्ट्र उसका दुरुपयोग न करें. अपितु सदुपयोग से प्राणी-वर्ग को शांति पहुँचावें। श्रम शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीनों प्रकार के आवश्यक हैं। जो जिस श्रम की क्षमता वाला हो, उसको उसी श्रम के विषय में विशेष विवेक रखने की आवश्यकता है। श्रम एवं योग्यतानुसार उसके लिए सोचना उचित ठहरता है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं की योग्यता एवं तदनुरूप शक्ति का गोपन न करे। यथायोग्य, यथास्थान अपने-आपको नियुक्त करने में किंचिदपि प्रमाद आलस्य न करे। अपना कार्य सबके लिए, सबका कार्य अपने लिए समझें।

(भीनासर)

दिनांक **12-1-77**

अर्थानुसन्धान के साथ जीवन-निर्माण सम्बन्धी संक्षिप्त सूत्र की निष्पत्ति सदा-सर्वदा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी सम्परिपूर्ण केन्द्रमयोऽहम्, सर्व-शक्ति सन्नियन्त्रण केन्द्रमयोऽहम्, सुरक्षा केन्द्रमयोऽहम् । एतद् सूत्रत्रयं सुविधिपूर्वकं साधनीयम् ।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक 21-1-77

प्रातः काल एक प्रसंग से संतों को शिक्षा देते हुए कहना पड़ा कि संयमविषयक प्रक्रिया यत्नपूर्वक परिमार्जन, परिस्थापन, प्रतिलेखन, आदि संयमी जीवन में दत्तचित्त सन्त मुझे प्रिय लगते हैं । भले ही वह मेरी सेवा न करें । मेरी सच्ची सेवा संयमी जीवनपूर्वक सच्ची आत्मसाधना में समझता हूँ ।

(गंगाशहर, [पुरानी बस्ती]—बालमुकन्दजी का मकान, बांठिया हाल के पास)

दिनांक 27-1-77

जीवन को दिव्य एवं भव्य बनाना मानव का प्रथम कर्त्तव्य है । उच्च आदर्श के अनुरूप विचार एवं आचार नितान्त आवश्यक है ।

मानसिक पवित्र भूमिका पर ही जीवन की दिव्य एवं भव्य फसल अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है । आन्तरिक धरातल पर जैसी भी जीवन की अवस्था बनाना चाहें, बन सकती है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

(गंगाशहर)

दिनांक 9-2-77

समग्र शक्तियों का सम्पूर्णरूपेण प्रादुर्भाव, प्रकटीकरण, विकास, संवर्धन आदि हुआ होता है और होगा। वह सम्पूर्णरूपेण मेरे में हो रहा है एवं अवश्य ही होकर रहेगा। समस्त जीवन श्रेष्ठ समता को प्राप्त होगा। इसमें किञ्चिदपि संदेह को अवकाश नहीं है। इस प्रकार का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन प्रतिदिन, प्रतिघड़ी, प्रतिमिनिट, प्रतिसेकण्ड, प्रतिसमय निरन्तर बना रहने से जीवन की दिव्यता, भव्यता के यथाशीघ्र पल्लवित-पुष्पित-फलित होने में विलम्ब नहीं हो सकेगा। बशर्ते इस प्रकार की विधि में किंचिदपि विस्खलना न हो।

(गंगाशहर)

दिनांक 11-2-77

.

मानव-जीवन स्वयं या मात-पिताओं के विचारों का प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। जिस भी विषय के विचार दृढ़ श्रद्धा के साथ बनते हैं, उनका प्रभाव शरीर पर अवश्य पड़ता है तथा उनके अनुरूप संरचना से भी चिरकाल में उन्ही विचारों का प्रतिबिम्ब फलित होता है।

(भीनासर)

दिनांक 22-2-77

.

प्रथम संवेदना से सम्बन्धित परिपक्व ज्ञान द्वारा जो कुछ भी धारणा, स्मृति, आदि के रूप में ज्ञान मात्रा की वृद्धि होती है, उससे अनुभव ज्ञान के रूप में मूल एवं स्थायी भावों का प्रसंग अनेकानेक रूपों में उभरने लगता है। मनोवैज्ञानिक भाषा में ज्ञात मस्तिष्क-पूर्वक अज्ञात मस्तिष्क-संबंधी सम्पूर्ण विषय आ जाता है।

उन्हीं मूल एवं स्थायी भावों से सम्बन्धित विचार, विकल्प, आदि विविध मानसिक वृत्तियों के ऊपर उठने पर जो अनुभवज्ञान है, वह प्रायः बाह्य दृश्यसम्बन्धी विषय से संयुक्त है।

उस अनुभव-ज्ञान का भी जो आधारभूत अनुभव है, वह जिस का स्वभाव है, उस स्वभावी को अवलोकित करना उसी स्वभाव के अधीन है। अतः उसी परम् सत्य तथ्य को पाना जीव का लक्ष्य है।

(भीनासर; बांठिया हाल)

दिनांक 29-9-77

अहिंसा-जीवन में से हिंसा के निकल जाने पर जो परिपूर्ण स्वरूप अवशेष रहता है. वह है स्वयं के प्रतिकूल व्यवहार पर के प्रति नहीं करते हुए स्वयं के समान अन्य को जानना-मानना। इस विवेक के साथ जो व्यवहार है, वह विधि रूप अहिंसा है। व्यक्ति स्वकीय शारीरिक, मानसिक, वाचिक एवं आध्यात्मिक आदि गौरवमय व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना नहीं भूलता एवं उनके लिए शक्य यत्न में पीछे नहीं रहता। वैसी ही भावना एवं सत्प्रयत्न यथासम्भव पर चैतन्य आत्माओं के लिये करना नहीं भूलना चाहिये। यही अहिंसा का वास्तविक स्वरूप है। समभाव का द्योतन (स्वरूप) है।

स्वयं के लिए विना भेद-भाव के सब कुछ करना और अन्य के लिए यथास्थान वैसा न करके भेद भाव लाना विषमभाव है, राग-द्वेषादि का स्वरूप है। अहिंसा नहीं वल्कि हिंसा का प्रच्छन्न रूप है।

(भीनासर, बांठिया हाल)

दिनांक 30-9-77

एकान्त तनाव सम्पूर्ण शक्ति को एक ही साथ समाप्त कर देता है। अतः पुनः उठने का अवकाश उस जीवन में नहीं रहता।

सर्वथा तनाव-शून्य अवस्था भी जीवन-निर्माण में असमर्थ रहती है।

उपर्युक्त दोनों मार्ग इधर या उधर गिराने वाले हैं। दोनों ओर की अति से अपेक्षित विलगता के साथ विवेक-दृष्टिपूर्वक आवश्यकतानुसार तनाव एवं शैथिलीकरण ही जीवन-प्रगति का यथेष्ट सर्वाङ्ग सुन्दर सही मार्ग है।

कायिक, वाचिक, मानसिक एवं अनुभूति-मूलक जीवन स्तरों से भी अत्यधिक गहनता में पहुँचने पर वास्तविक स्वरूप उपलब्ध होगा। वह भी कब ? जब सही लक्ष्य को सन्मुख लेकर विधिवत् क्रमिक गमन होगा। अन्यथा भटकन होगी।

(भीनासर, बांठिया हाल का कमरा)

दिनांक 30-9-77

परमश्रद्धेय समतादर्शनप्रणेता धर्मपालप्रतिबोधक

आचार्य श्री नानालालजी म. सा.

की

संक्षिप्त जीवन-झांकी

आचार्य श्री नानेश : एक परिचय

□ श्री शान्ति मुनि

भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा सन्त-महात्मा एवं ऋषि-महर्षियों के त्याग के उपादानों से रही है। संस्कृति के ऐतिहासिक पृष्ठों से एकबारगी यदि सन्त-महात्मा एवं ऋषि-महर्षियों के जीवनवृत्तों को पृथक् कर दिया जाय तो निश्चितरूपेण संस्कृति की चेतना लुप्त हो जाएगी। वह संस्कृति मात्र एक (जड़) ढांचा रह जायेगी।

दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति त्याग पर ही आधारित है। हमारा इतिहास बताता है कि जितने भी पूज्यतम हुए हैं, अपने त्याग के बल से ही हुए हैं।

महावीर, राम, कृष्ण और बुद्ध की पूज्यता का कारण उनका राजकीय वैभव न होकर यथोचित मात्रा में लौकिक वैभव आदि का त्याग ही रहा है। विशेषतया भारतीय सांस्कृतिक हिमालय से प्रवहित मूल दो (श्रमण एवं वैदिक) धाराओं में श्रमण (निर्ग्रन्थ श्रमण) संस्कृति की धारा तो निवृत्ति प्रधान होने के कारण त्याग से ही ओतप्रोत रही है।

इस त्यागप्रधान संस्कृति की लौ को अनवरत प्रज्वलित रखने हेतु प्रत्येक युग में कोई-न-कोई चेतना प्रकाशस्तम्भ बनकर अवनितल पर उतरित होती है और अपने जीवन-स्नेह द्वारा संस्कृति की परम्परागत चली आ रही लौ को अक्षुण्ण रूप से प्रज्वलित बनाए रखती है। इसे हम साहित्य की भाषा में युगचेतना किंवा युग-पुरुष की संज्ञा से अभिसंज्ञित करते हैं।

पारिभाषिक अर्थों में युग-पुरुष वह होता है, जो अपने युग को तत्कालीन संदर्भों में नूतन संदेश द्वारा आलोकित एवं आन्दोलित करता है। उसकी वैचारिकता में युग का विचार मुखरित होता है। उसकी वाणी में युग बोलता है और उसकी प्रत्येक क्रियान्विति से युग को नवीन चेतना, नई स्फूर्ति एवं नूतन प्रेरणा मिलती है। वह युगीन चेतना का सफल एवं सबल प्रतिनिधित्व करता है।

वह अपनी महत्ता एवं दिव्यता से समस्त मानवजाति को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वायुमण्डल को महत्तम एवं दिव्यतम रूप में आलोकित एवं अनुप्राणित करता है। वह अपनी क्रान्तिकारी दिव्य एवं तप्त विचाररश्मियों

से समाज में चले आ रहे गले-सड़े विश्वास, विचार एवं आचार के अन्धकार को निरस्त करता हुआ उसमें सम्यक् नूतनता का स्नेह सिंचन कर उसे दिव्यता से भर देता है। सीधे एवं स्पष्ट शब्दों में कहें तो स्व-पर-कल्याण की गहरी निष्ठा, अविचल आस्था एवं प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ समाज को विकृति के गर्त से बचाकर संस्कृति की ओर गति देता है, वही महापुरुष किंवा युग-पुरुष कहलाता है।

परम श्रद्धेय समताविभूति आचार्य श्री नानालालजी म. सा. वर्तमान सदी के ऐसे ही महिमाशाली युग-पुरुष हैं। उनके ओजस्वी एवं तेजस्वी व्यक्तित्व तथा कृतित्व ने समाज को अध्यात्म के क्षेत्र में क्रान्तिकारी दिशा प्रदान की है।

शब्दचित्र

मंझला कद, भरी-पूरी एवं सुडौल किन्तु कोमल देह, कान्तिमय-गेहुँआ वर्ण, गम्भीर, मधुर स्मितयुक्त प्रसन्न वदन, अमिताभ-तेज मंडित विशाल भाल, चौड़ा वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहू, अति एवं कोमल हल्की लालिमा लिये हुए सामुद्रिक सुलक्षणों से युक्त हस्तयुगल।

सिर पर बिखरी हुई विरल, धवल एवं श्यामल मिश्रित केशराशि। उपनेत्र में से झांकते हुए दिव्य तेजोमय चक्षु, जो संमुखस्थ व्यक्ति को चुम्बकीय शक्ति से प्रभावित करते हुए उसके अन्तरंग भावों के परीक्षण में परम प्रवीण हैं।

गुदगुदी भरी कोमलता एवं सुकुमारता से रंजित लघु पादांगुलियां एवं तदनुरूप पद्मरेखादि सुलक्षणों से युक्त अत्यन्त सुकोमल रक्ताभ चरण-सरोज। श्वेत, नाति-स्वच्छ खद्दर से समावृत साध्वोचित सादगी का प्रतिरूप जादू भरा परम प्रभावक वह बाहरी व्यक्तित्व, जो आंतरिक विशुद्धता "सादा जीवन उच्च विचार" का स्पष्ट अभिव्यंजक है। सीधा-सादा रहन-सहन एवं जैन श्रमणोचित अति सीमित उपकरण। धार्मिक एवं दार्शनिक विचारचर्चा में निष्णात कतिपय शिष्यसमुदाय से परिवृत्त एवं हजारों-हजार उपासकों के श्रद्धाभाजन। यही है परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म. सा. का बाह्य व्यक्तित्व।

व्यक्तित्व–अंकन

सरस और स्पष्ट मानस, सहज स्फूर्त तर्क-पटु तीक्ष्ण प्रज्ञा तथा वात्सल्यमयी कोमल, किन्तु सुस्पष्ट वाणी की अभिव्यंजना, जिस तेजोमय

व्यक्तित्व में इन तीनों की समष्टि है, उस महामहनीय व्यक्तित्व का परिचय है—परमश्रद्धेय, समतादर्शनप्रणेता, धर्मपालप्रतिबोधक, आचार्य श्री नानालालजी म. सा., जिसे हम संक्षेप में 'आचार्य श्री नानेश' शब्द-शृंखला में अभिव्यक्ति देते हैं।

जिनकी वाणी में छोटे, बड़े एवं समवयस्क सभी के प्रति नवनीत-सी मृदुता एवं कुसुम-सी कोमलता झलकती है, किन्तु तार्किक विचार-मंथन में जो वज्रादपि कठोर एवं हिमालय से भी अधिक निष्प्रकंप है।

व्यवहार-पटु होने के साथ ही अपनी वैचारिक एवं व्यावहारिक चारित्र-मय आचरण पद्धति में मेरुवत् अचल, निष्कंप एवं अडोल हैं। जो आधुनिक संदर्भ में विज्ञान की चकाचौंध से पराभूत जन-चेतना में विज्ञान, दर्शन एवं संस्कृति के समन्वय-सूत्र प्रस्तुत कर जन-जागृति करने वालों में सर्वाधिक अग्रगामी, सर्वाधिक सजग एवं सर्वतोभावेन लोकप्रिय हैं।

आचार्यदेव सौजन्य, सौहार्द्र, स्नेह, सद्भाव एवं समत्वयोग के अद्भुत एवं ध्रुव अपने-आप में आप ही एक साधक हैं और हैं इस नूतनता एवं पुरातनता के संघर्षपीड़ित युग में दोनों चिन्तनधाराओं में समन्वय प्रस्तुत करने वाले स्नेह के नये सूत्रधार। पद की दृष्टि से सर्व ज्येष्ठ होते हुए भी पर्यायज्येष्ठों के प्रति अप्रतिम विनम्र। छोटों एवं समवयस्कों के प्रति निष्कारण भावपूर्ण स्नेहिल।

निष्कर्ष की भाषा में आचार्यदेव का विराट व्यक्तित्व उस इन्द्रधनुष की तरह सुनहरा और मोहक है, जिसकी रमणीयता को अनेकानेक बार देख-कर भी नेत्र कभी तृप्ति का अनुभव नहीं कर सकते।

उनका व्यक्तित्व अति रमणीय, अद्भुत एवं क्रियाशील है। जहां वह दर्शन के समान तर्कशील एवं गूढ़ है, वहां काव्य के समान सरस एवं सुबोध भी।

अध्यात्मनिष्ठ योगी की विशुद्ध व्यक्तिवादी दृष्टि उनमें झलकती है, तो एक समाज-संगठक का समूहवादी चिन्तन भी उनमें निखरता-सा लगता है।

साधुत्व की दृष्टि से वे साधना के उच्च शिखर को छू रहे हैं, तो अनु-शासनात्मक विचार-क्रान्ति की दृष्टि से वे समाज की जड़ता को झकझोर कर उसको गतिशील योग्य नेतृत्व भी देते हैं। सचमुच आचार्यदेव के व्यक्तित्व में इन्द्रधनुष की तरह विभिन्न रंग एक विलक्षण छटा लिये एक साथ उभरते दिखाई देते हैं।

अरुणोदय

महापुरुषों किंवा युगपुरुषों का जीवन-वृत्त निरन्तर प्रवहमान उस निर्मल एवं पवित्र सरितधारा-सा होता है, जो अपने प्रारम्भिक उषाकाल में अति लघु और मध्य में विराट से विराटतम होती हुई अन्त में महासमुद्र की अनन्तता में परिणत हो जाती है।

आचार्यदेव की जीवनसरिता भी, चूंकि एक युग-पुरुष की जीवन-सरिता है, अतः अपने उद्‌गम काल में अति लघु होते हुए विशाल और विराटतम अनन्त गहराई का अनुसरण करने वाली है।

जन्मभूमि

भारत के पश्चिमी प्रदेश राजस्थान के दक्षिण-पूर्व में वीरत्व की गौरव-गरिमा से मण्डित तत्कालीन मेदपाट (मेवाड़) की राजधानी सुरम्य उपवनों एवं अरावली श्रेणियों से सुरक्षित अपनी प्राकृतिक छटा, सुषमा के लिये विश्व-प्रसिद्ध है, जहाँ हजारों किलोमीटर से पर्यटक केवल अपनी नेत्र-पिपासा तृप्ति के लिए आते रहते हैं, उस झीलों की नगरी उदयपुर से पूर्वदिशा की ओर तत्कालीन उदयपुर राज्यान्तर्गत एक छोटा-सा गांव जिसे लोग दाँता (दाता) कहते हैं, जो नदी, नालों एवं छोटी-छोटी टेकड़ियों से उपशोभित, चतुर्दिक हरियाली की मनोरम छटा विखेरता हुआ करीब पांचसौ की अल्प जनसंख्या वाला है, जो आज भी यातायात के सामान्य साधनों से वंचित प्राचीन भारत की स्मृति ताजा कर देता है। जहां ओसवालों-जैनों के केवल तीन परिवार हैं। वस यही पवित्र भूमि अपनी लघुता में विराटता को गर्भित किये हुए उस तपःपूत युग-पुरुष की जन्मस्थली है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य एवं वैज्ञानिक सत्य है कि आज विश्व विराटता से सूक्ष्मता की ओर अधिक गतिशील है। एक छोटे से अणु-परमाणु में जो क्षमता है वह वड़ी-वड़ी शृंखलाओं में नहीं, वृक्ष का छोटा-सा वीज अपने-आप में कितनी विराटता छिपाये हुए है, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है।

यही स्थिति हमारे श्रद्धेय चरितनायक की है। कौन जानता था कि छोटे से गांव का छोटे से नाम वाला (राजस्थानी भाषा में "नाना" छोटे बच्चे के अर्थ में व्यवहृत होता है) यह छोटा-सा लाल अपने-आप में इतनी

विराट क्रांतिकारी क्षमता लिये हुए है। इसे ही तो मुहावरों की भाषा में "गुदड़ी के लाल" कहते हैं।

पारिवारिक परिवेश

उपर्युक्त इन्हीं तीन श्रेष्ठी परिवारों में अपनी गौरवशाली नैतिकता से सु-समृद्ध एक सामान्य परिवार के प्रमुख थे स्वनामधन्य श्रीमान् मोड़ीलालजी पोखरना, जो तत्कालीन उदयपुर रियासत के जागीरदारी के इस छोटे से गांव के गौरवशाली प्रमुखों में थे। आपका प्रमुख व्यवसाय ग्राम्यजन-योग्य-भोग्य वस्तुओं (किराना, वस्त्र, अनाज आदि) का क्रय-विक्रय करना एवं अपनी पैतृक भूमि पर कृषि करवाना था। आप उस समय एक कूप और करीब 30 बीघा (18 एकड़) अच्छी उपजाऊ भूमि के स्वामी थे। पशुधन भी आपके पास पर्याप्त मात्रा में था—करीब 15-20 गायें, भैंसें आदि थीं।

आपकी धर्मसहायिका थीं रत्नकुक्षिधारिणी श्रीमती शृंगारकुंवर-बाई जो गृह-कर्तव्यों की कुशल संचालिका के साथ एक सुश्रद्धा सम्पन्न धर्मपरायण महिलारत्न थीं। चूंकि आपका पीहर (पितृ-पक्ष) एक ऐसे धर्मनिष्ठ (भदेसर) ग्राम में था, जहाँ जैन साधु-साध्वियों का चातुर्मास आदि प्रसंगों पर आवागमन होता ही रहता था, अतः आपको श्रद्धानिष्ठ धार्मिक संस्कार धरोहर के रूप में अपने माता-पिता से मिले थे। फलस्वरूप आपका धार्मिक जीवन अतीव समुन्नत था।

इसी रत्नगर्भा पुण्यशीला माता की कुक्षि से संवत् 1977 की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया को श्रद्धेय आचार्यदेव का जन्म हुआ, जिससे जननी और जन्मभूमि दोनों ही गौरवान्वित हो चमक उठीं।

जनक और जननी अति मृदुल एवं सरल होते हुए भी अपनी धार्मिक वृत्ति में सजग एवं दृढ़चित्त थे। मातुश्री केवल नाम से ही शृंगार नहीं थीं, अपितु अपनी सौजन्यता एवं मृदुलता के कारण सम्पूर्ण ग्रामवासियों के लिए उत्कृष्ट शृंगार (अलंकार) स्वरूपा थीं।

आचार्यदेव के अग्रज दो भ्राता एवं अग्रजा पांच भगिनियां थीं। भ्रातृवर्य तत्कालीन उच्च आदर्शों की छाया में पलनेवाले थे एवं वहिनें अन्य उच्च कुलों की शोभा बढ़ाने वाली थीं। आचार्यदेव की दो भगनियां, महासतीजी श्री धापूकंवरजी एवं महासतीजी श्री छगनकंवरजी म. सा., ने आपश्री का ही पदानुसरण कर संयमपथ स्वीकार कर लिया। उनमें से महासतीजी श्री धापूकंवरजी तो सरलता, सात्विकता एवं सादगी की

प्रतिमूर्ति प्रभु ऋषभदेवकालीन साधुत्व का स्मरण कराने वाली भद्रमना साध्वी रूप में अभी विद्यमान हैं जो, वास्तव में साधुत्व के रूप में साध्वीरत्न ही हैं तथा महासतीजी श्री छगनकवरजी अपनी अल्पकालीन दीक्षा पर्याय में ही जन-जन की श्रद्धाभाजन बन स्वर्गवासी बन गईं।

आपके एक सहोदर भाई का वियोग तो उस समय ही हो गया था, जबकि आप जन्म, जीवन एवं मृत्यु की घटनाओं से सर्वथा अपरिचित थे। अर्थात् आपको उस वियोग का कुछ भी अहसास नहीं हुआ। किन्तु जब आपकी उम्र लगभग आठ वर्ष की थी, अचानक अपने पूज्य पिताजी की वात्सल्यपूर्ण छत्रछाया आपके सिर से उठ गई। इससे आपके हृदय को एक गहरा आघात लगा। अभी तक आपने अपने जीवन की सुषमा एवं वसन्त का ही अनुभव किया था, आज उससे विपरीत क्रूर मृत्यु का भी साक्षात्कार कर लिया। इस हृदयविदारक दारुण प्रक्रिया से आपके सारे सुनहले स्वप्न-महल एक-एक कर ढहने लगे। परन्तु इसकी प्रतिक्रिया में आपके जीवन ने अचानक एक नया मोड़ लिया और चिन्तन का एक नया स्रोत आप में खुल गया।

चूंकि पिताश्री के दुःखद अवसान के समय आपके बड़े भ्राता श्री मीठालालजी और आप दो भाई ही थे, अतः कुछ पारिवारिक एवं आर्थिक जिम्मेदारियों ने स्वतः प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। अर्थात् परिवार की सम्पूर्ण जिम्मेदारियां आप दोनों लघुवयस्क भ्राताओं पर आ पड़ीं।

निमित्त की चिनगारी

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात" के अनुसार एक प्रसंग आ गया। आपकी एक अग्रजा भगिनी थी सुश्री मोतीबाई, जिनका पाणिग्रहण भादसोड़ा निवासी श्रीमान् सवाईलालजी साहब लोढा से हुआ था।

प्रसंग उस समय का है जब मेवाड़ी मुनि चौथमलजी म. सा. का चातुर्मासिक वर्षावास सम्वत् 1994 में भादसोड़ा में था। (आपकी) आचार्यदेव की बहिन श्रीमती मोतीबाई ने (पंचोले) पांच दिन तक निराहार रहने का तपश्चरण किया। तत्कालीन प्रचलित परिपाटी के अनुसार तपस्विनी बहिन के लिए ऐसे प्रसंगों पर उसके पितृगृह से वस्त्रादि (पोशाक) भेजे जाते थे। तदनुसार आपके लिये भी यह आवश्यक हो गया कि भादसोड़ा बहिन के लिये परिवार से पोशाक आदि उचित सामग्री पहुँचाई जाय। चूँकि ऐसे पावन अनुष्ठान प्रायः गृह-प्रमुखों के करकमलों द्वारा ही सम्पन्न

हुआ करते हैं, साथ-ही-आप इस प्रकार की धार्मिक अनुष्ठानों की क्रियाओं से अपरिचित भी थे और आपकी इनमें रुचि भी नहीं थी, अतः अपने अग्रज श्रीमान् मीठालालजी को ही आपने वहां जाने के लिये सम्प्रेरित किया। किन्तु मीठालालजी उस समय किसी अन्य कार्य में व्यस्त थे, अतः वे नहीं जा सके। फलस्वरूप आपको ही उपर्युक्त प्रसंग पर जाने का आदेश मिला। आप उचित साधन-सामग्री लेकर इच्छा नहीं होते हुए भी, अश्वारूढ़ हो चल पड़े अपने गन्तव्य की ओर।

चिरस्थायी गन्तव्य

वास्तव में यह आपका चिरस्थायी गन्तव्य की ओर ही गमन था। प्रकृति आपको किसी अलौकिक गन्तव्य की प्रेरणा के लिये ही यहाँ तक खींच लाई थी। भादसोड़ा अपनी बहिन के यहां पहुँच कर यथायोग्य व्यवहार के साथ रात्रि-विश्राम वहीं पर किया। साथ में लाई हुई सामग्री भेंट कर प्रातःकाल पुनः लौटने की तैयारी करने लगे। किन्तु आपके बहनोईजी ने किसी तरह समझाया कि अभी पर्यूषणों के दिन चल रहे हैं और कल तो महापर्व है। कल का दिन पवित्र धार्मिक अनुष्ठानों में व्यतीत होना चाहिये। किसी भी प्रकार की सवारी आदि का उपयोग नहीं करना चाहिये और आप आज ही घोड़े को परेशान करना चाह रहे हैं। इस प्रकार कुछ मान-मनुहार के पश्चात् आपको अनिच्छापूर्वक वहां रुक जाना पड़ा।

जैसा कि पहले लिख आये हैं, इस वर्ष वहाँ मेवाड़ी मुनि चौथमलजी म. का चातुर्मास था। अतः प्रायः समस्त जैन समाज उनके पर्यूषण-प्रवचनों का लाभ लेने पहुंच रहा था। हमारे चरित्रनायकजी को भी बहनोईजी आग्रह-पूर्वक प्रवचनस्थल पर ले गए। आप प्रवचनस्थल से कुछ दूर बैठकर श्रवण करने लगे। प्रवचन कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था, फिर भी लोक-लज्जा से बैठे रहे। व्याख्यान समाप्ति के प्रसंग पर मुनिजी ने कहा कि कल एक ऐसी बात सुनाऊंगा जिससे संसार की दशा का ज्ञान होगा। हमारे चरित्र-नायक को कहानी रूप बातें सुनने का अधिक शौक था, अतः सोचा कि कल की कहानी सुन लेनी चाहिए। तदनुसार दूसरे दिन भी प्रवचन सुनने गये। जब कुछ रस आने लगा तो उठकर कुछ आगे समीप जाकर बैठ गए।

सांवत्सरिक प्रवचन होने के कारण प्रवचन का विषय वैराग्योत्पादक एवं धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति प्रेरणाप्रद था। संसार की असारता एवं हिंसाकारी आरम्भक प्रवृत्तियों के निषेध पर बल दिया जा रहा था। चूंकि

तत्कालीन वातावरण के अनुसार ग्रामीण सभ्यता में पलने वाले अधिकांश जैनधर्मावलम्बी भी कृषिकार्य किया एवं करवाया करते थे, अतः उनको उद्बोधन देने हेतु मुनिश्री तत्कालीन भाषा-शैली के माध्यम से कह रहे थे, "बड़े बड़े वृक्ष कटवाने से बहुत पाप लगता है, क्योंकि इस क्रिया से असंख्य अथवा अनन्त वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा तो होती ही है, साथ ही अन्य अनेक तदाश्रित पशु-पक्षी आदि (चलते-फिरते) प्राणियों की भी हिंसा होती है। हिंसा, असत्य, चोरी आदि पाप-वृत्तियों में रत रहने वाला व्यक्ति मरकर दुर्गति में जाता है, कभी कुछ पुण्य कर्मों से मानव तन भी प्राप्त कर लेता है, तो कभी पूरी इन्द्रियां नहीं मिलतीं अर्थात् बहरा, गूंगा, लंगड़ा आदि विकलांग बन जाता है, तो कभी दर-दर का भिखारी बन जाता है और उचित धार्मिक वातावरण मिलना भी कठिन हो जाता है।" इसी शृंखला में महाराजश्री ने फरमाया, "यह ह्रास काल है अतः पंचम एवं षष्ठम आरक (काल विशेष) में इन्द्रिय, शक्ति, शारीरिक संगठन आदि क्षीण होते जायेंगे। यहाँ तक कि छठे आरे में उत्पन्न होने वाला मानव तो बहुत लघुकाय अर्थात् एक हस्त प्रमाण ऊंचाई वाला होगा। बहुत लघुवय में पितृ-पद भोक्ता बन जायगा। 20 वर्ष की उम्र तक तो वृद्ध बन 10-12 सन्तान का पिता बन जायगा।" इस प्रकार आरों का आद्योपान्त विस्तृत विवेचन किया।

प्रवचन तत्कालीन पर्षदा के लिये भावप्रवाही, हृदयग्राही एवं वैराग्योत्पादक था। किन्तु यथा "आम्रवृक्ष पर आने वाली सभी मंजरियां फलवती नहीं होतीं", ठीक उसी प्रकार उपदेष्टा द्वारा उपदिष्ट वाणी सभी श्रोताओं के सुप्त मानव को जागृत कर दे, यह आवश्यक नहीं। कोई विशिष्ट श्रोता ही उस वाणी को कर्णकुहरों तक ही सीमित न रखकर हृदयतन्त्री तक पहुँचा पाता है और उनमें भी कोई विरल ही उसे सर्वतोभावेन जीवन-परिवर्तन का आधार बना लेता है।

उन विरल चेतनाओं में ही हमारे श्रद्धेय चरित्रनायक भी रहे हैं, जिन्होंने प्रवचन के एक-एक शब्द को एकाग्रतापूर्वक सुना एवं उसे मन-मस्तिष्क पर नियोजित कर लिया। व्याख्यानश्रवण करते समय तक उसका नूतन परिवर्तनकारी कोई स्थायी प्रभाव आप पर नहीं पड़ा। प्रवचन-समाप्ति पर अन्य श्रोताओं की तरह आप भी अन्यमनस्कवत् चलते बने। बहिन के निवास-स्थान पर पहुँचे और अपना अश्व सजाने लगे। बहिन एवं बहनोई आदि ने बहुत निषेध किया एवं समझाया कि आज संवत्सरी महापर्व है, आज सवारी आदि नहीं करनी चाहिये। कल प्रातःकाल होते ही चले जाना, आदि।

किन्तु अपनी धुन के पक्के चरित्रनायक पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ ! आप अश्वारूढ़ हो चल पड़े एक अद्भुत गन्तव्य की ओर, चूंकि उस समय आपकी मातुश्री अपने एक भाई, जो भदेसर में रहते थे, के यहाँ थीं। आपने अपनी मातेश्वरी से मिलने हेतु भदेसर की ओर प्रयाण किया, जो भादसोड़ा से लगभग दस मील पड़ता है। उस समय तक आपकी धार्मिक आस्था सुदृढ़ नहीं हुई थी, अतः आपने उस रोज संवत्सरी होने से लोक-लज्जावश भोजन नहीं किया किन्तु उपवास व्रत का प्रत्याख्यान भी नहीं लिया।

चिंतन का मंथन

श्रद्धेय आचार्यदेव में अपने शैशवकाल से ही चिन्तन की प्रवृत्ति रही है। आप जीवन की किसी भी सामान्य-असामान्य घटना की गहराई में पहुँचने का प्रयास करते और चिन्तन के मन्थन से निष्कर्ष का नवनीत निकाल लेते।

वातावरण कुछ ऐसा ही मिला। एकान्त विजन, सुरम्य वनस्थली, वन की नीरवता को भंग करने वाला पक्षियों का कलरव, जो मानव को सतत चिन्तन के लिए उत्प्रेरित करता है, के मध्य सजग-चेता चरित्रनायक अश्वारूढ़ हो चले जा रहे थे। वन की मन्द बयार चतुर्दिग् भाद्रपदीय हरियाली की रम्य छटा एवं शान्त वातावरण (जो आचार्यश्री का सदा से ही चिन्तन-क्षेत्र रहा है) का समुचित सुयोग पाकर आचार्यदेव के चिन्तन ने एक नूतन अंगड़ाई ली। प्रवचन में अनुश्रुत विषय पर गम्भीर चिन्तन के साथ मंथन होने लगा।

जो कुछ श्रवण किया, उसमें से जितना मानस-पटल पर अंकित रहा, उसी पर धाराप्रवाही चिन्तन चला, जिसने आपकी आपेक्षिक सुषुप्त चेतना को एक झटके के साथ उद्बोधित कर दिया। बिजली की चमक के सदृश आपको एक दिव्य प्रकाश की अनुभूति हुई। आपके चारों तरफ प्रकाश-ही-प्रकाश फैल गया। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की एक दिव्य रश्मि का प्रकाश आपके अन्तःकरण में प्रस्फुटित हुआ, जिसने आपकी समग्र चेतना को एकाएक आलोकित कर दिया, आनन्द से भर दिया। तथाकथित धर्मविद्रोही मन धर्माभिमुख बन धर्म की गहनता एवं सूक्ष्मता के परीक्षण में तत्पर बनने लगा।

काल दिग्दर्शन-वैराग्य

आपके चिन्तन का प्रकरण था—काल (आरा) का वर्णन एवं वनस्पति-विज्ञान।

मुनिश्री द्वारा उपदिष्ट प्रवचन के काल-सम्बन्धी वर्णन पर जब आपने चिन्तन करना प्रारम्भ किया, तो करीब दो मील के मार्ग तक आप उसी में खो गये। छोटे-से सूत्र पर मन-ही-मन बड़े-बड़े भाष्यों का निर्माण होने लगा। संख्यातीत प्रश्न मानसपटल पर उभरते और मन ही उनका समाधान ढूंढता। नीतिकारों की 'कालो हि दुरतिक्रमः' वाली उक्ति सत्य प्रमाणित होती जा रही थी। क्या वास्तव में काल इतना दुरूह है ? हमें भी इस सुनहरे स्वप्निल जीवन के अन्त में काल के गह्वर में खो जाना होगा ? अपने शुभाशुभ के अनुसार दुर्गतिगामी बनना पड़ेगा ? क्या छठे आरे के अत्यन्त क्लेशमय कृच्छ्र मानवीय तन में जाना पड़ेगा ? क्या अनन्त काल तक यही भटकन चलती रहेगी ?

इस प्रकार संख्यातीत प्रश्नों से जूझता हुआ आचार्यश्री का चिन्तन द्रुतगति से, अश्व की गति से भी तीव्रगामी हो, बढ़ता रहा सत्य की किंवा स्वयं की खोज में। प्रश्नों की सीमा प्रश्नों तक ही नहीं रह पायी थी। ये प्रश्न जीवनगत यथार्थ के साक्षी बन चुके थे। मुनिश्री ने जो कुछ कहा था वह जागतिक जीवन की यथार्थ परिणति थी। ये प्रश्न जीवनगत यथार्थ के साक्षी बन चुके थे। मुनिश्री ने जो कुछ कहा था, वह जागतिक जीवन की यथार्थ परिणति थी। किन्तु जीव परवश-सा सब कुछ झेल रहा था। भय और भीति से नहीं, पौरुष की चिनगारियों से जीवन के तार-तार जगमगा उठे। विराट संकल्प ने अंगड़ाई ली, समग्र चेतना ही संकल्प बन बैठी। संकल्प के महासागर में करुणा, अहिंसा और सहानुभूति की तरंगें थीं।

सहसा आपश्री की दृष्टि परिपार्श्व में फैली हुई दीर्घकाय वृक्षावली पर पड़ी और चिन्तन प्रवचन के दूसरे पहलू पर पहुँच गया। ओह ! इन वृक्षों को छेदने-भेदने और कटवाने में कितनी हिंसा है ! कितने जीवों का संहार ! मुनिश्री ने ठीक ही तो कहा था कि एक वृक्ष के कटवाने पर वनस्पतिकायिक असंख्यात एवं अनन्त सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा तो प्रत्यक्ष है ही, किन्तु परोक्ष रूप से तदाश्रित कितने जीवों का संहार होता एवं आश्रय छिन जाता है। हजारों पशु-पक्षी उसके आश्रय में पलने वाले अपने गृहों (नीडों) से वंचित-निराश्रित हो जाते हैं। इस वृक्षावली के अभाव में वे पक्षियों के कलरव कैसे मुखरित होंगे ! आखिर इन प्राणियों में भी तो हमारे जैसी ही चेतना है ! उनके वे घोंसले भी तो उनके लिए हमारे

महलों से कम नहीं हैं। हमें क्या अधिकार है हम किसी के आवासों को नष्ट करें!

चिन्तनशील मानस, कल्पना के पंखों पर द्रुतगामी उड़ानें भरता रहा और अन्ततोगत्वा स्वयं पर केन्द्रित हो स्वयं के ही अतीत के घटना-चक्रों पर मण्डराने लगा।

मैं आज दिन तक अनभिज्ञतावश कितना अधार्मिक और हिंसक बना रहा। माताजी के धार्मिक अनुष्ठानों में किस प्रकार व्यवधान बना। उनकी सामायिक लूटने का प्रयास करता था। साधु, साध्वियों को ढोंगी समझता था। कूप निर्माण हेतु चूना बनवाने के लिए कितने हरे वृक्ष कटवाये। हन्त! धिक्कार है अपने-आप को....पश्चाताप की ज्वाला अन्दर-ही-अन्दर पूरे वेग के साथ धधकने लगी। उस ज्वाला से आन्तरिक मैल पिघल-पिघल पानी बनकर आंखों के द्वारा बाहर निकलने लगा। अन्तरात्मा से होने वाला पश्चाताप इतना वेगवान बन गया कि आप उस विजन वन में मानो अपनी सारी कालिमा को एकान्त-परमात्मा के चरणों में पहुँचा देने के लिए उच्च स्वर में आक्रन्दन करने लग गये। करीब 3 मील तक कातर स्वर में पश्चातापपूर्ण आक्रन्दन चलता रहा और नेत्राम्बु मिथ्यात्व एवं अज्ञान पानी बनकर बहता रहा। चिन्तन गम्भीर से गम्भीरतम होने लगा था। हृदय में कई तूफान उठने लगे, एक नई चेतना का जन्म हुआ। बिजली की चमक के समान एक दिव्य प्रकाश की अनुभूति हुई और चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश फैल गया। इस प्रकार यह यात्रा अन्धकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, सुपुप्ति से जागृति की ओर ले जाने वाली एक यात्रा ही नहीं, महायात्रा रही।

भदेसर ग्राम अर्थात् अपने ननिहाल के निकट पहुँचे, तो लोकलज्जा से अभिभूत हो रूदन करना बन्द कर कन्धे पर पड़े हुए अंगोछे (टावेल) से नेत्र एवं मुँह पोंछकर एक शीतल छायादार वृक्ष के नीचे कुछ विश्रान्ति के लिए अश्व को एक तरफ बांधकर बैठ गये और मन को सांत्वना देते हुए मन-ही-मन दृढ़ संकल्प कर लिया कि अब मानव जीवन के पवित्र लक्ष्य की ओर बढ़ना है। सत्य की खोज करना है, स्वयं धार्मिक बनना है और मातुश्री, भाभीजी आदि परिजनों को धर्म में, आत्मोत्थान के मार्ग में अग्रसर करना है। बस यही आचार्यदेव के धार्मिक जीवन का बीजारोपण-काल अथवा उषाकाल है, जिसमें सहस्रों चिन्तनधारा-रूपी कमल, जो अज्ञान की निशा में मुकुलित थे, प्रफुल्लित हो उठे।

इस प्रकार चिन्तनात्मक अल्पकालीन विश्रान्ति के पश्चात् मातेश्वरी की सेवा में पहुँच कर चरणों में गिर पड़े और हार्दिक पश्चातापयुक्त रुदन के साथ निवेदन करने लगे, "मैंने आपको बहुत कष्ट दिये। धर्मध्यान में बाधक बना। मैंने बहुत पाप बांध लिये हैं। आज जंगल में मेरा जीवन बदल गया। अब मैं आपकी धार्मिक आराधना में कभी भी अन्तराय नहीं दूंगा। इतना ही नहीं, अब मैं स्वयं आपको म. सा. के दर्शन करवाने ले जाऊंगा। मैं समझ गया हूँ कि उनके प्रवचन आत्मकल्याणकारी होते हैं। जीवन की क्षणभंगुरता का बोध भी मुझे हो गया है। अतः जितनी अधिक धर्मसाधना हो सके शीघ्र कर लेनी चाहिये। मैंने आरों का वर्णन भी सुना है। अब हमें "छठवें" आरे में उत्पन्न नहीं होना है। अतः पूरा जीवन धर्ममय बनाना चाहिये आदि।"

चरितनायक अब सत्य के द्वार तक पहुँच चुके थे। द्वार उद्घाटन के पूर्व अनेकानेक प्रश्न मानसपटल पर उभरने लगे। संयमित अहिंसक जीवन कैसा होना चाहिये ? क्या मानव पूर्ण अहिंसक बनकर जी सकता है ? सन्त जीवन क्या है ? साधु-सन्तों का जीवन किस प्रकार का होता है ? दीक्षा क्या होती है और क्यों ली जाती है ? समस्त दुःखों से मुक्ति हेतु क्या करना पड़ता है ? मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है ? किन अनुष्ठानों में इसकी सफलता निहित है ? सहस्रों प्रश्न मानस-सरोवर में तरंगित होने लगे। कभी-कभी तो आपका सम्पूर्ण चिन्तन इन्हीं पर केन्द्रित हो जाता है।

विरक्ति की देहरी पर

जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर आये हैं कि चरितनायक का जीवन अब आमूलचूल बदल चुका था। भावनाओं में विरक्ति घर कर चुकी थी और उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति दैनंदिन क्रियाओं से होने लगी थी। समस्त क्रियाकलापों में परिवर्तन हो चुका था। व्यवसाय सम्बन्धी कार्यक्रमों से अब आपका मन उचट चुका था। आपने अपने ध्येय के अनुरूप कार्य खोज लिया। आसपास के कुछ बच्चों को एकत्र करना और अपने सामान्य अध्ययन के आधार पर ही उन्हें पढ़ाना, धार्मिक हितशिक्षा देना अथवा एकान्त स्थल पर बैठ कर जीवन के विषय में विविध आयामी चिन्तन करना ही अब आपका प्रमुख कार्य रह गया।

जिन खोजा तिन पाईयां

एक कहावत है "जहां चाह वहां राह।" हमारे चरितनायक भी सत्य

की राह को ढूंढते हुए निरन्तर बढ़ते जा रहे थे। अन्तर में द्वार की खटखटाहट चालू थी। एक ही धुन, एक ही निष्ठा और एक ही अवधारणा थी, योग्य मार्गदृष्टा गुरु को पाकर कृतार्थ होना है। अब समय पक चुका था, द्वार-उद्घाटन की वेला आ चुकी थी। आपको यह ज्ञात हो ही चुका था कि युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. कोटा में विराजमान हैं। अब आपने अधिक समय गंवाना ठीक नहीं समझा।

प्रथम दर्शन

कोटा स्थानक (धर्म-स्थान) में पहुँच कर प्रथम बार आपने एक अलौकिक महापुरुष के दर्शन किये। प्रवचन, श्रवण और विचारचर्चा तो दूर, केवल मुखमण्डल की दिव्य एवं शान्त आभा को देखकर ही आप पर एक जादू-सा असर हो गया। आपका हृदय अभिभूत होने लगा। अन्दर-ही-अन्दर उस महापुरुष के प्रति अडिग आस्थावान् बनकर सर्वतोभावेन समर्पित हो गये। वे महापुरुष थे शान्त क्रान्ति के अग्रदूत, निर्ग्रंथ श्रमणसंस्कृति के सजग प्रहरी तत्कालीन युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा.। वैसे युवाचार्यश्री के विषय में आपको कुछ परिचय पूर्व में ब्यावर एवं कपासन में मिल ही चुका था, किन्तु वह केवल श्रुति मात्र थी, अनुभूति नहीं। आज आपने उनके दर्शन कर प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त कर ली। युवाचार्यश्री के दर्शन से आपके हृदय में गहरा प्रभाव अंकित हो गया, लेकिन उससे भी गहरा असर आप पर हुआ युवाचार्यश्री की निःस्पृहता का।

गहरे पानी पैठ

जब चरितनायक युवाचार्यश्री के समक्ष उपस्थित हुए और विनम्रता-पूर्वक अपना परिचय देते हुए अन्तर निवेदना करने लगे—"भगवान् ! शिष्य सेवा में उपस्थित है। मुझे अपनाने की महती कृपा करें। मैं आपश्री के चरणों में संयम-आराधना करता हुआ आत्मकल्याण करना चाहता हूँ।"

युवाचार्यश्री ने सहज स्मिति के साथ सुस्पष्ट किन्तु गम्भीर उत्तर दिया—"भाई ! साधु बनना कोई हंसी-खेल नहीं है। साधु बनने से पूर्व साधुता को समझने का प्रयास करो। कुछ ज्ञान-ध्यान सीखो। त्याग एवं वैराग्य को स्थायी एवं सबल बनाते हुए संतजीवन को सूक्ष्मतापूर्वक परखो। चित्त की चंचलता के साथ भावावेश में किसी भी मार्ग पर बढ़ जाना श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता है। यदि कल्याण-मार्ग का अनुकरण करना

है, तो गुरु का भी परीक्षण कर लो। इसके पश्चात् साधु-दीक्षा स्वीकार करके आत्मा को तप की भट्टी पर चढ़ा दो। अभी तो आए ही हो। न तुमने हमको ठीक से देखा है और न हमने तुमको।"

यह निःस्पृहतापूर्ण अनासक्त योग-सा उत्तर सुनकर चरितनायक अवाक् से रह गए, उनका मन चिन्तन-सरिता में बहने लगा। एक ओर तो शिष्य-व्यामोह में आसक्त साधु और कहाँ यह अनासक्त योगी! उनके मन पर अतीत के अनेक घटना-चित्र एक-एक कर अवतरित होने लगे—मैं कितने ही सन्तों के पास पहुँचा, किन्तु इतना निःस्पृह एवं यथार्थ उत्तर मुझे कहीं नहीं मिला।

एक ने कहा था—"बच्चा, हमारे पास साधु बनेगा, तो तुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा, खूब आराम से रखेंगे।"

दूसरे ने कहा—"हमारा चेला बनेगा, तो हम तुम्हें अपनी सब विद्याएँ सीखा देंगे।"

तीसरे ने कहा—"मेरा शिष्य बनेगा, तो तुझे सम्प्रदाय का प्रमुख बना दूंगा।"

चौथे ने अपनी प्रतिष्ठा का प्रदर्शन करते हुए कहा था—"अधिक दौड़-धूप और सोच-विचार की आवश्यकता नहीं है। हमारे जैसे सन्त और सम्प्रदाय तुझे अन्यत्र नहीं मिलेंगे, हमारे यहाँ संयमी जीवन की क्रियाओं का कठोरता से पालन होता है।" आदि।

शिष्य बनने के उपर्युक्त सुझावों में मुझे कहीं आश्वासन मिला था, कहीं आकर्षण मिला था, कहीं प्रलोभन मिला था, कहीं सब्जबाग दिखाये गये थे और कहीं चेला बनने की प्रतिज्ञा करने पर ही ज्ञान-ध्यान सिखाने की शर्त रखी गयी थी, किन्तु एक महाराज ये हैं जो पहले साधुत्व को एवं गुरु को समझने एवं परीक्षण करने का संकेत दे रहे हैं।

चरितनायक बहुत पुलकित हुए। श्रद्धा से अभिभूत हो द्रवित हो उठे और कहने लगे—"भगवन्! मैं तो बहुत से सन्तों के पास घूम-फिर कर यहाँ श्रीचरणों में उपस्थित हुआ हूँ, किन्तु यदि सभी दीक्षार्थियों के समक्ष ऐसी कठोर शर्त रखेंगे, तो आपकी शिष्य-परम्परा कैसे बढ़ेगी? कैसे कोई आपका शिष्य बनेगा?"

युवाचार्यश्री ने पुनः गम्भीर मुद्रा में कहा—"यदि मेरा कोई शिष्य नहीं बनेगा, तो मेरे आत्मकल्याण में कौन-सी बाधा उपस्थित हो जायेगी। मुझे जमात नहीं बढ़ानी है। आत्मसाधना के पथ पर वही चल सकता है,

जो वास्तविक वैराग्य-भावना से विभूषित हो, तपःपूत हो। जिसकी ज्ञान-दर्शन-चरित्र के प्रति अविचल आस्था होगी, जो परिपक्व होगा, वही आगे बढ़ सकेगा। भाई, मुझे संख्या नहीं, साधुता चाहिये। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सेव्य-सेवकभाव का ही सम्बन्ध नहीं है, उसमें संयमसाधना में पारस्परिक सहकार की भावना भी अपेक्षित है। जहाँ इस सम्बन्ध की पूर्ति न होती हो, वहाँ वह सम्बन्ध निरर्थक ही नहीं, हानिकारक भी सिद्ध होता है। अतः गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करने से पूर्व यह नितान्त आवश्यक है कि एक दूसरे को अच्छी तरह परख लें।"

युवाचार्यश्री की यह मार्मिक विवेचना चरितनायकजी के हृदय में गहरी बैठ गई। वे समझ गये कि यही एक विभूति है, जिसे पाकर मैं अपना साधना-जीवन धन्य बना सकूंगा। मेरे आत्म-कल्याण का पथ इन्हीं से प्रशस्त होगा। ऐसे निःस्पृह-निःस्वार्थ एवं विरक्त महापुरुष ही मेरे जीवनोन्नायक हो सकते हैं।

आपने मन-ही-मन संकल्प कर लिया उक्त महापुरुष की चरणसेवा का। सर्वात्मना उन्हें स्वीकार कर वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में उसी दिन से तल्लीन हो गए। परीक्षा ले तो चुके थे, अब परीक्षा देना ही शेष था। उन्हें योग्य गुरु का सान्निध्य एवं सामीप्य प्राप्त हो चुका था।

सागार से अरणगार

दीक्षा के मंगल आदर्श की ओर पदार्पण करने को वर्षों से उत्सुक थे हमारे श्रद्धेय चरितनायक। सत्य की खोज के लिये उनका मन छटपटा रहा था। अब काल पक चुका था। विकट संघर्षों के पश्चात् आपको दीक्षार्थ अनुमति मिल चुकी थी।

शान्त प्रशान्त वातावरण में निर्धारित्त दीक्षा तिथि संवत् 1996 पौष शुक्ला अष्टमी को विशाल जनसमूह एक वृहत्त जुलूस के रूप में कपासन शहर के बाहर एक सुरम्य सरोवर के किनारे आम्रवृक्षों के निकुंज के मध्य स्थित आम्रवृक्ष के नीचे एकत्रित हो गया। हजारों की उस जनमेदनी के समक्ष युवाचार्यश्री गणेशीलालजी म. सा. ने दीक्षा का मौलिक स्वरूप हृदय को छूने वाली मार्मिक शैली में प्रस्तुत किया।

श्रमणचर्या की विवेचना के अनन्तर अभिभावकों, उपस्थित जन-मेदनी एवं संघप्रमुखों से अनुमति प्राप्त कर विधिपूर्वक दीक्षा मन्त्रोच्चार के साथ वैरागीजी को भागवती दीक्षा (निर्ग्रन्थ प्रवज्या) प्रदान की गई।

वैरागी श्री नानालालजी "मुनिश्री नानालालजी" के रूप में बदल गए और युवाचार्यश्री के पुनीत कर-कमलों द्वारा प्रथम शिष्यत्व का गौरव प्राप्त कर धन्य-धन्य हो गए। जैनसंस्कृति के अनुसार वे द्वितीय जीवन में प्रविष्ट हो गये, जहां सारा दृष्टि-बिन्दु ही बदल जाता है। संसार वही, देह भी वही, जीवन भी वही, किन्तु दृष्टि-बिन्दु में आमूल परिवर्तन हो जाता है। अब उनकी सारी दृष्टि साधना पर केन्द्रित हो जाती है।

इस प्रकार उदीयमान यौवन के उषःकाल में ही अर्थात् अठारह वर्ष की आयु में ही बाल ब्रह्मचारी व्रत से सुशोभित होते हुए आपने युगसम्राट आत्मज्ञाननिधि ज्योतिर्धर पूज्य प्रवर श्री जवाहरलालजी म. सा. के शासन में प्रशान्त आत्मा, युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के अनुशासन में "भिक्खु" जीवन—अणगार धर्म की दीक्षा अंगीकार की और दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित "भिक्खु" धर्म के अधिष्ठाता बन गये।

साधना के पथ पर

जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है—निर्ग्रन्थ प्रवज्या का अर्थ परिवेश परिवर्तन ही नहीं है। वहां दीक्षा से तात्पर्य जीवन परिवर्तन से है। निश्चय ही दीक्षा प्रक्रिया में वेश परिवर्तन, सिर-मुण्डन, गृह-परित्याग सब कुछ होता है, किन्तु दीक्षा का सर्वस्व यही नहीं है, ये तो कुछ बाह्य क्रियाएं मात्र हैं, जो आभ्यन्तरिक परिवर्तन की परिचायिका हैं। केश-मुण्डन अथवा परिधान परिवर्तन तभी सार्थक होता है, जब राग-द्वेष की जटायें भी मुण्डित हों। तृष्णा की अदम्यलिप्सा और भोगों के प्रति आसक्ति के भाव निर्मूल हो जायें। भोगेच्छु कभी भी दीक्षा जैसे पवित्र मार्ग का पथिक नहीं बन सकता। जो अन्तर्मन से मुमुक्षु हों और साधना में निरन्तर गतिशील रहने के दृढ़तर संकल्प लिए हुए हों, वे ही व्यक्ति दीक्षा को संबल बनाकर लक्ष्य-सिद्धि तक पहुँच सकते हैं। दीक्षा का अर्थ है अचंचल मन से मुक्ति-मार्ग पर सतत गति का शुभारंभ। दीक्षा की सार्थकता इसी में निहित है कि वह साधना के पथ को ज्योतिर्मय कर दे।

दीक्षा की सार्थकता तभी है जब उसमें वैराग्य की बाती हो और विवेक का तेल हो, तभी दीक्षा के प्रदीप से संसार को भी आलोकित किया जा सकता है।

श्रद्धेय चरितनायक दीक्षा के इसी रूप का साक्षात्कार करना चाहते थे। ऐसी दीक्षा प्राप्ति के लिए उनका मन छटपटा रहा था, किन्तु 'अवश्यं भाविनो भावा भवंति महत्तामपि' अर्थात् जो होने का है वह होकर रहता

है। इस तथ्य के अनुसार उन्होंने अपनी अन्वेषणीय तीक्ष्ण प्रज्ञा से योग्यतम गुरु को प्राप्त कर लिया और आपका साधना-जीवन निरन्तर प्रवहमान सरिता की तरह अबाधगति से बढ़ने लगा। आपकी चेतना ज्ञान-दर्शन-चरित्र की आराधना की समुचित मनःस्थिति प्राप्त कर आनन्दानुभूति करने लगी। प्रमादजन्य आलस्य का परित्याग कर पूरी शक्ति के साथ आप ज्ञान-आराधना, संयम-साधना एवं तप-आराधना में संलीन हो गये।

ज्ञानसाधना

ज्ञानसाधना में अपनी समस्त शक्तियों को नियोजित कर आप शीघ्र ही सैद्धान्तिक मौलिक ज्ञान के साथ व्याकरण, काव्य, योग, न्याय, आगम (चूर्णिभाष्य टीका-ग्रन्थ) कथा, कोष, छन्द, अलंकार आदि विभिन्न आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक विषयों के विशिष्ट ज्ञाता, अध्येता एवं व्याख्याता हो गए। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी एवं गुजराती आदि कतिपय प्रांतीय भाषाओं के निष्णात विद्वान् बन गए और आज तक उक्त सभी भाषाओं में उपलब्ध हजारों उपयोगी ग्रन्थों का आपने मन्थन कर डाला और इस प्रकार समस्त भारतीय दर्शन के समुन्नत कोटि के अधिकृत वेत्ता बन गए। इसकी रसानुभूति आज भी आपके प्रवचनों में की जा सकती है। आगम ग्रन्थों में निहित सूक्ष्म तत्त्वों की अनुभूतिमूलक गंभीर व्याख्या जब आपके मुखकमल से प्रवाहित होती है तब ऐसा विदित होता है मानो एक महान वाग्मी एवं श्रुतधर स्थविर महात्मा द्रव्यानुयोग की चिन्तनपूर्ण मौलिक मीमांसा प्रस्तुत कर रहे हों। आगम के गूढ़ सूत्रों का स्फुटार्थ श्रोताओं के हृदयकमलों को रवि की प्रातःकालीन किरणों की तरह प्रफुल्लित कर देता है।

साध्वोचित प्रांजल भाषा में सुशोभित होती हुई आपकी व्याख्यानपद्धति खण्डन-मण्डन के कालिख से दूर पूर्णरूपेण स्याद्वाद सिद्धान्त पर आधारित होती है। शास्त्रीय गंभीर भावों को भी सरल एवं सुबोध भाषा में व्यक्त कर देना आपकी आगमज्ञता की विशेष अनुभूति का द्योतक है। जिस समय आपकी प्रवचनधारा अजस्र रूप से प्रवाहित हो रही हो उस समय भी आपका ध्यान "भाषा समिति" के प्रति अति सजग रहता है। मधुर, निर्दोष एवं सुबोध शब्दों का चयन करना आपकी अपनी विशेषता है। आपत्तिजनक एवं तुच्छ शब्दों के प्रयोग पर आपका पूरा-पूरा नियंत्रण रहता है। आपके व्याख्यान के विषयों में मुख्यतः आधुनिक विज्ञानवाद के

दर्शन में वर्णित पुद्गलवाद की विवेचना जहां विद्वानों एवं मनीषियों के अन्तर्चक्षु खोलने वाली होती है, वहां जनसाधारण के लिए परम आल्हादक, रोचक एवं ज्ञानवर्धक होती है।

जैनदर्शन की तत्त्वविवेचना में पुद्गल एवं परमाणु तत्त्व की गरिमा एवं शक्ति-सीमा असाधारण रूप से कितनी गंभीर है, इसकी अर्थपूर्ण अनुभूति यदि किसी को करनी हो, तो वह परम श्रद्धेय आचार्यश्री के गंभीर प्रवचनों को सुनकर आज भी अपनी अतृप्त ज्ञान-पिपासा को शान्त कर सकता है।

संक्षेप में ज्ञानसाधना में आपने श्रुतदेवता की आराधना अप्रमत्त होकर इतनी तन्मयता से एवं निष्ठापूर्वक की है कि आज भी सरस्वती आपके जीवन के कण-कण से मुखरित होती हुई परिलक्षित होती है।

संयमसाधना

यह कहा जा चुका है कि संयम स्वीकार करते ही चरितनायकजी ने अपनी साधना के तीन आयाम निश्चित कर लिये थे। ज्ञान-आराधना, संयम-साधना एवं तपाराधना (सेवा-भावना)। तदनुसार अपनी जितनी शक्ति उन्होंने ज्ञानार्जन में लगाई, उतनी ही शक्ति बल्कि उससे भी बढ़कर संयमसाधना में नियोजित कर दी और जैन श्रमण के लिए यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि वह चाहे ज्ञानाराधना अथवा दर्शनाराधना में संलग्न हो, संयमसाधना तो उसके जीवन का अभिन्न अंग ही बन जाती है। जैन श्रमणदीक्षा का अर्थ ही है संयम की कठोर साधना अथवा संयमी जीवन। ज्ञानोपार्जन जैन श्रमण जीवन का दूसरा अंग है। उसका पहला अंग है संयम-आराधना।

चरितनायक ने भी संयम स्वीकार कर ज्ञानाराधनापूर्वक साधना के कठोरतम दिव्य महापथ पर पदन्यास कर दिया और क्रमशः साधनासिद्धि के सोपानों पर "मुणिणो सया जागरन्ति", अर्थात् मुनि वही है जो सदा जाग्रत है, के आगम वाक्य को आत्मसात करते हुए सतत जागरूक बन कर अग्रसर होने लगे।

सेवासाधना

जैसा उज्ज्वल पक्ष आपकी ज्ञान कोटि का रहा है, वैसा ही समुज्ज्वल पक्ष आपकी सेवासाधना का भी रहा है। शान्त क्रान्ति के अग्रदूत सप्तम पट्टधर सम्पूर्ण स्थानकवासी जैन समाज के अप्रतिम आराध्य, जैनाचार्य स्व. श्री गणेशीलालजी म. सा. की जैसी अनन्य भक्तिपूर्ण सेवा आपने की है उसे

सीमित शब्दों की शृंखला में नहीं बांधा जा सकता है। उन सेवाओं का यदि संक्षिप्त उल्लेख भी किया जाए तो एक विशालकाय ग्रन्थ तैयार हो सकता है। आपने अपने आराध्य गुरुदेव की सेवा-शुश्रूषा में अपनी आत्मा की सम्पूर्ण मानसिक और शारीरिक शक्तियों को एकसाथ संयोजित कर दिया था और सेवासाधना में ही आत्मलीनता की अनुभूति करने लगे थे।

ध्यान : अन्तर्जगत की यात्रा

श्रद्धेय चरितनायक की आभ्यंतर तपःसाधना का तीसरा और महत्वपूर्ण अंग है "ध्यान"। साधना-क्षेत्र में प्रवेश करने के पश्चात् उनकी सभी दैनंदिन क्रियाएँ ध्यान से अनुप्राणित होती थीं। उनकी संयमानुष्ठान की हर क्रिया में एकावधानता होती थी अथवा यों कहें कि उनका संपूर्ण जीवन ध्यानयोग का बन गया था। उनकी चिन्तनधारा सदा प्रशस्त ध्यान में प्रवाहित रहती थी। साधना की विभिन्न विधियों में श्रद्धेय चरितनायक ने ध्यानसाधना को सबसे अधिक सबल एवं सफल विधि माना और इसी के आधार पर उन्होंने संयममार्ग में समुत्कर्ष प्राप्त किया। उनकी प्रारंभिक ध्यान-साधना श्वासानुसन्धान और प्राणायाम से गुजरती हुई आज्ञाचक्र की दुरूहता को लांघकर सहज योग में स्थिर हुई है, जो आजकल अवाधगति से विकासमान है। वैसे साधनाकाल के शैशव और यौवन में अभ्यास के रूप में आपश्री ने ध्यान की अनेक विधियों को हृदयंगम किया और क्रमशः विकास की ओर अग्रसर होते हुए आगमोक्त, पदस्थ, पिण्डस्थ आदि ध्यानविधियों के द्वारा ध्यानसाधना की प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त किया। आज तो ध्यान-साधना इतनी सूक्ष्म एवं गहरी बन गई है कि जब आप ध्यानसाधना में तल्लीन होते हैं, तो देखने वाले को निष्कम्प सुस्थिर महायोगी की ध्यानमुद्रा सम्बन्धी कल्पनाएं ही साकार फलीभूत दिखती हैं।

यद्यपि विभिन्न साधनांगों में ध्यानांग को अत्यन्त दुःसाध्य माना जाता है, किन्तु श्रद्धेय चरितनायक का जीवन इसका ज्वलंत प्रमाण है कि ध्यान-साधना क्रमशः शनैः-शनैः कितनी सुगम और सुबोध बनायी जा सकती है। चूंकि ध्यान-साधना प्रयोगात्मक अनुभूतिमूलक साधना है, अतः किसी भी महान् पुरुष की ध्यानप्रक्रिया को कोई लेखक अभिव्यंजना का विषय नहीं बना सकता। प्रकाश अनुभूति का विषय है, उसे शब्दोल्लेख से किसी को हृदयंगम नहीं कराया जा सकता। एक जन्मान्ध को लाख प्रयास करने पर भी प्रकाश के रूपरंग अथवा आकृति का बोध नहीं [illegible]

सकता। ठीक इसी प्रकार किसी महा-चेतना की ध्यानगत अनुभूति का रसास्वादन किसी भिन्न व्यक्ति को कराना शब्द की सामर्थ्य के बाहर है, अस्तु चरितनायकजी की ध्यानसाधना का अनुभूतिमूलक चिन्तन हमारी शब्दशृंखला में बँधने से अतीत है।

आचार्य

इस साधना, आराधना एव उपासना की समुज्ज्वलता ने ही आपश्री के व्यक्तित्व को निखारकर "आचार्य" जैसे गरिमापूर्ण पद की प्रतिष्ठा प्रदान की। संवत् 2019, आश्विन शुक्ला द्वितीया आपश्री ने दिव्यदृष्टा चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर के शासन एवं महान्-तपोधनी क्रान्तदृष्टा श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. के अनुशासन में चलने वाली क्रान्तिकारी समुज्ज्वल परम्परा के अष्टम पाट को युवाचार्य पद के रूप में सुशोभित किया तथा सम्वत् 2019 माघ कृष्णा द्वितीया को शान्त क्रान्ति के अग्रदूत आचार्यश्रेष्ठ श्री गणेशीलालजी म. सा. के दिवंगत होने पर आचार्यपद पर आसीन हुए।

आपश्री के आचार्यत्व के अल्पकाल में अनेक क्रान्तिकारी घटनाप्रसंग उपस्थित हुए, जिनका सविस्तार विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा, तथापि आचार्यप्रवर की कुछ महत्त्वपूर्ण देनों, जो समाज एवं राष्ट्र को स्वस्थ क्रान्तिकारी दिशा प्रदान करती हैं, के विषय में कुछ लिखना आचार्यदेव के व्यक्तित्व को समझने के लिए अधिक उपयोगी होगा।

दीक्षाएँ

भौतिकताप्रधान इन्द्रियाकर्षण वाले इस युग में 20 वर्ष की इस अल्पावधि में आपश्री के पुनीत करकमलों द्वारा 186 दीक्षाएँ सम्पन्न हो चुकी हैं। जिनमें लगभग 80% तो अविवाहित युवा-युवतियां ही हैं। जहाँ आज के युवावर्ग के विषय में आक्षेपात्मक विचार श्रवण करने को मिलते हैं, वहाँ आचार्यप्रवर के चरणों में वे सहज खिचे चले आते हैं।

समतादर्शन

समाज एवं राष्ट्र-कल्याण तथा विश्वशान्ति हेतु उसके अमोघ उपाय के रूप में आपने अपनी साधना एवं गूढ़ अध्ययन के द्वारा 'समता सिद्धान्त' की मौलिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक रूपरेखा प्रस्तुत की है।

आज का जनजीवन जिस विषमता के दलदल में फंस चुका है अथवा फंसता जा रहा है, वह अत्यन्त शोचनीय है। चारों तरफ हिंसा का ताण्डव

नृत्य हो रहा है, प्रत्येक मानव का मन भयाक्रान्त है, विषमता की इस विभीषिका के भयंकर परिणामों से उपराम पाने के लिए ही आचार्यश्री ने समतादर्शन की मौलिक देन समाज के लिए प्रस्तुत की है।

आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत समतादर्शन वैचारिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक क्षेत्रों में समता का समुद्घोष कर अहिंसक उत्क्रान्ति का आधार रखने वाला, साम्प्रदायिक घेरेबन्दियों से मुक्त, वैचारिक और व्यावहारिक रूपरेखा तैयार करने वाला है। यदि विचिन्तकों, दार्शनिकों तथा समाज व राष्ट्र के कर्णधारों की चेष्टाएँ इस दर्शन के अनुरूप हों, तो मैं समझता हूँ कि निर्विवादेन विश्वशान्ति का प्रयास एक आश्वस्त दिशा पा सकता है। इसके साथ ही दर्शनजगत् अपने भव्यरूप में पुनः स्थायी आलोकस्तम्भ के रूप में प्रस्तुत हो सकता है।

समीक्षणध्यान

अपनी ध्यानयोगी आत्मसाधना के निष्यन्द के रूप में आपने समीक्षण-ध्यान की एक नूतन विधा प्रस्तुत की है, जो आज के तनावग्रस्त विश्वमानस के लिये तनावमुक्ति का अमृत पाथेय है।

आचार्यप्रवर स्वयं एक ध्यानयोगी साधक हैं। ध्यान की तलस्पर्शी अनुभूतियों का सन्दोह है उनके पास। अतः वे इसके वैधानिक अधिकारी हैं। उन्होंने अपनी इस साधनापद्धति को 'समीक्षण-ध्यान' की संज्ञा प्रदान की है। समीक्षण का अर्थ है—'सम्यग्+इक्षण' सम्यग् प्रकार से अथवा समतापूर्वक देखना। विपश्यना एवं प्रेक्षाध्यान प्रणालियों में केवल ईक्षण देखने को महत्व प्रदान किया गया है। जबकि देखना उभयमुखी होता है—सम्यग् भी और मिथ्या भी। अतः समीक्षणध्यान की महत्ता इस अर्थ में और बढ़ जाती है कि वह वीतरागसम्मत सम्यग्-दर्शन में अन्तर्गर्भित होकर मोक्षमार्ग के त्रिअंगों में स्थान प्राप्त कर लेता है। विपश्यना, प्रेक्षा अथवा सक्रिय ध्यान की पद्धतियों में वह अर्थवत्ता ध्वनित नहीं होती जो समीक्षण शब्द में होती है, क्योंकि इसे "पन्ना समिक्खए धम्मं" वाला आगामिक आधार भी प्राप्त है।

दलितोद्धार

यही नहीं, अध्यात्म की गहराइयों में प्रवेश के उपरान्त भी आप सामाजिक परिवेश एवं परिस्थितियों से अपरिचित नहीं रहे हैं। वर्णभेद

एवं जातिवाद के द्वारा होने वाली राष्ट्र की दुर्दशा एवं अध्यात्महीनता के साथ वृद्धिंगत हिंसा पर आपका ध्यान केन्द्रित हुआ। आचार्यत्व के गरिमामय पद पर आसीन होते ही आपने दलितोद्धार एवं तद्द्वारा अहिंसक उत्क्रान्ति का कार्य हाथ में लिया और स्वल्पकाल में लगभग अस्सी हजार (80,000) दुर्व्यसनों में उलझे, दलित माने जाने वाले व्यक्तियों के जीवन को परिवर्तित कर उन्हें एक अहिंसक जीवन की नई दिशा प्रदान की, जिन्हें आज 'धर्मपाल' की संज्ञा प्राप्त है।

सम्यक् परिभाषा

आपने जीवन को परिभाषित करते हुए "सम्यग् निर्णायकं समतामयश्च यत्तज्जीवनम्" के द्वारा जीवन की सर्वांगपूर्ण यौक्तिक परिभाषा प्रदान की और "योगश्चित्तवृत्ति संशोधः" के रूप में योग को सुन्दरतम समीचीन अर्थों में परिभाषित किया।

ऐसे एक-दो नहीं, अनेकानेक सामाजिक, राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक क्रान्तियों का बिगुल बजाने वाला युगपुरुष संज्ञा का संवाहक महनीय व्यक्तित्व है आचार्यश्री नानेश का।